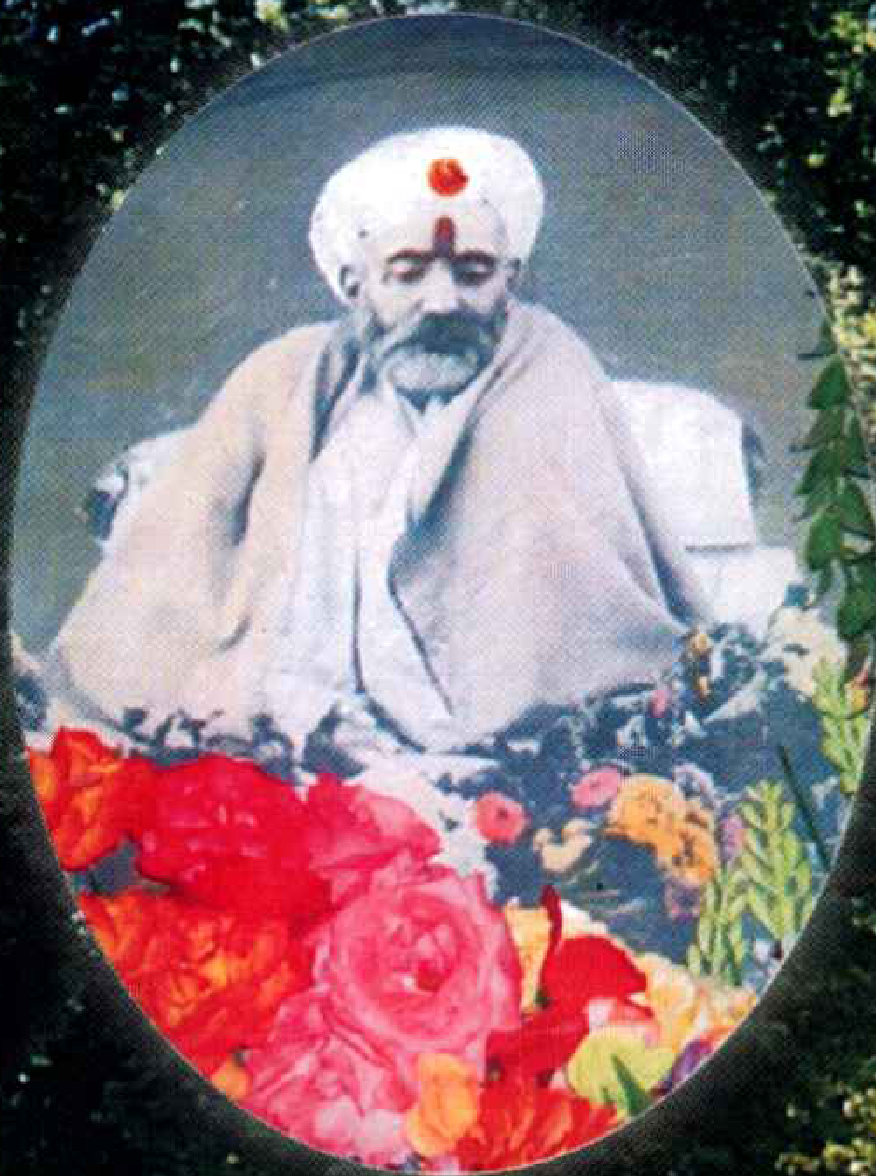
चिरंतन कश्मीर की शैवी अर्चना का स्वरूप
(स्पष्ट रूप से व्याख्यापित)



श्री राम शैव (त्रिक) आश्रम
फतेहकदल, श्रीनगर, कश्मीर

डॉ. टी. एन. गंजू

चिरंतन कश्मीर की
शैवी अर्चना का स्वरूप

(स्पष्ट रूप से व्याख्यापित)

''चिंरतन कश्मीर की शैवी अर्चना का स्वरूप''

प्रथम संस्करण : 2009

प्रकाशक :
कलहन पब्लिकेशन्स
शुभम् अर्पाटमेन्ट
डी-7 / 4, दिलशाद कालोनी दिल्ली - 95,
फोन: 011-22357543 मो. 9810970105
E-mail:nagjee213@gmail.com,nagjee213@yahoo.co.in

मुद्रक :
जॉफरी एण्ड बेल पब्लिशर्स, प्रिंटर्स
बी-30, द्वितीय मंजिल, चन्द्रगुप्त कॉम्पलेक्स
सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली - 92
फोन - 011-22047667
E-mail:jeoffryandbellpublishers@gmail.com

भूमिकाः

प्रस्तुत आरती के इस विस्तृत संस्करण से पूर्व, आज से बीस साल पहले, 'श्री राम शैव' (त्रिक) आश्रम (फतेहकदल श्रीनगर-कश्मीर) के संपादक मण्डल के देख-रेख में आश्रम की आरती का हिन्दी अनुवाद प्रकाशन हो चुका था। सौभाग्य से तत्कालीन आश्रम अध्यक्ष एवं शैवदर्शन के वयोवृद्ध विद्वान स्व0 प्रेमनाथ नेहरू (बी.ए.बी.टी.) ने इस "आश्रम-आरती" का हिन्दी भाषा में अनुवाद भी किया था, पर यह संस्करण अब समाप्त हो चुका है। इस हिन्दी भाषा युक्त-प्रथम संस्करण के प्रति जिज्ञासु एवं प्रबुद्ध पाठकों का यह आग्रह आवश्य रहा है कि जब भी भविष्य में आश्रम की आरती का प्रकाशन नये संस्करण का प्रयत्न किया जाएगा, तो हिन्दी-व्याख्या में इसका यथा-संभव विस्तार अवश्य होना चाहिए। अतः पाठकों के आग्रह को ध्यान में रखकर इस परिप्रेक्ष्य में कई एक बैठकों में आपसी परामर्श करके भावी कार्य-योजना का श्रीगणेश आरम्भ ही किया था कि कश्मीर में 19 जनवरी, 1990 की रात में विभीषक कालिरात्रि का विकराल गर्जन सामूहिक मौत की ललकार बनकर रातभर गूजँता ही रहा और तब से, वह त्रासद बनकर, ताण्डव की लीला में संलग्न है। इस मौत की खुली ललकार ने कश्मीर के निहत्थे एवं आदिवासी कश्मीरी भट्ट-समुदाय अथवा हिन्दू-समुदाय को अपनी लाखों की चल-अचल संपत्ति को छोडने के लिए विवश किया

क्योंकि उनके सामने सबसे महान् प्रश्न जीवन-मरण का था, अपहरण का था, बलात्कार का था और बलान्धर्म परिवर्तन का था। स्वतंत्र भारत में एक बार फिर से आततायी मध्ययुग का धर्मिक-अन्धकार छा गया, जिसका साक्षात्कार कश्मीर के मुसलिम-मध्ययुग के संस्कृत-इतिहासकार जोनराज ने 1366-1456 ई. पर्यन्त भोगा था, देखा था और जिस आततायी यातना को झेला था, उसने स्वयं कश्मीर के इस हिन्दू विध्वंस के ताण्डव को देखा था:

मरूद्भिः इव वृक्षाणां शालीनां शलभैः इव।
कश्मीर देशाचाराणां ध्वंसोऽ थयवनैः कृतः॥
काश्मीरानविशन् म्लेच्छाः सुक्षेत्रं शलभा इव।

(जोनराज ''राजतंरगिणी'' श्लोक 575-576)

''अर्थात् कश्मीर देश में आक्रमणकारी यवनों का आना, एक विभीषक, विध्वंसकारी और संहारकारी बाढ़ के अनुरूप एक ताण्डव था और यह अप्रत्याशित आक्रमण यथार्थ में टिडिड्यों के विनाशकारी दल का आना था, जिन टिड्डीदल रूपी यवनों ने हजारों मीलों तक के लहलहाते फसल रूपी संपूर्ण संपत्ति, समृद्धि और संस्कृति का समूल विनाश कर डाला''

''आक्रमणकारी यवनों का कश्मीर देश में आना अवश्य ही विनाशकारी टिड्डी दल का आना था, जिन्होंने कश्मीर देश में आकर यहाँ की समस्त भौतिक-संस्कृति और आध्यात्मिक-संस्कृति का सम्पूर्ण ध्वंस करके अतीत के समृद्ध वैभव को मात्र कथा विशेष की स्थिति तक पहुंचाया।''

अतः इस दुर्दशा के फलस्वरूप श्री राम शैव (त्रिक) आश्रम की यह योजना कि आरती की व्याख्या स्पष्ट होनी चाहिए, "रह रहकर रह ही गई, परं गुरूदेव स्वामी जी की अनुकम्पा से इस ओर फिर से एक सायास प्रयास हुआ और आरती की व्याख्या गुरुदेव की कृपा से संपन्न हुई। आरती की अनुक्रमणिका इस प्रकार से है:-

प्रथमतः इस में गुरु वन्दना का श्रीगणेश है, उसके उपरान्त आगम ग्रन्थों, स्पन्द ग्रन्थो, प्रत्यभिज्ञा - ग्रन्थों शाक्त एवं तंत्रो की सूक्तियों का संकलन हुआ है। जिसमें इस ब्रह्माण्ड का विस्तृत दिग्दर्शन वर्णित हैं। इस प्रकरण में जो भी अध्यात्म-संग्रह संकलित है, इनका सानन्द-उच्चार महामाहेश्वर श्रीराम सदा किया करते थे। अतः इन सुक्तियों में शिवतुल्य म.मा. श्रीराम के आनन्द और परमहर्ष की उन्मता सन्निहित है।

'द्वादश-काली' के सन्दर्भ में विराट और असीम विश्व चेतना (Stream of Conciousness) का एक कास्मिक असीम विस्तार का विस्फोट है, जो ऋग्वैदिक हिरण्यगर्भ-सूक्त की परिधि को पार करके आधुनिक सापेक्षवाद (Relative theory) से तालमेल बिठाता है। सापेक्षवाद-सिद्धान्त का ज्वलन्त-साक्ष्य कश्मीर की शाक्त-रचना पच्चंस्तवी के 'अम्बस्तव' के बीस और इकीसवें श्लोक में विशदता से मिलता है। इसका रचना काल ईसा पूर्व का होना निश्चित है। द्वादशकाली का उल्लेख पंच्चस्तवी में भी उद्‌धृत हुआ है द्वादशकाली के स्तवन में भूगोल और खगोल अर्थात् पृथिवी-तत्त्व और आकाश-तत्व को समेटकर 360^0 अंशों

का वृत्त उपस्थित होता है। इस स्तवन में प्रतिपद्य से लेकर "अमाकला-समेत" 15^0 अंश आते है और प्रतिपद्य से लेकर 'पूर्णिमा-कला-समेत' तक 15^0 अंश आते हैं, और दोनों का जोड, अर्थात् $15^0+15^0 = 30^0$ आता है। शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के इन 30^0 अशों को द्वादश सूर्यों, अथवा द्वादश राशियों अथवा द्वादश मासों से गुणन-क्रिया करने के उपरान्त उपलब्धि 360^0 अंशों की आती है। अर्थात्

"$15^0 + 15^0 = 30^0 \times 12 = 360^0$"

'द्वादशी-काली' का स्वरूप विश्व- चेतना (Universal-Conciousness) का एक व्यापक स्वरूप है। इस पर शोध की गंभीरता अभी भी अपेक्षित है। द्वादशकाली के संदर्भ में सृष्टि का आंरभिक विज्ञान कूट-कूट के भरा हुआ है। आध्यात्म-चिन्तन में इसका एक व्यापक स्वरूप तो स्पष्ट है, पर ज्योतिषि-भौतिकी (Astro Physics) में यह एक अद्‌भुत योगदान है, जिसको सहज में नकारा नहीं जा सकता है।

इसके उपरान्त आचार्य अभिनवगुप्त के "भैरव-स्तोत्र" का प्रकरण है। लोक मान्यता के आधार पर आचार्य अभिनवगुप्त जी ने 'श्री आनन्देश्र-भैरव' के परिसर में आकर और युगपत् साक्षात्कार के उपरान्त, वहीं उसी प्रांगण में, स्तोत्र की सद्य-रचना मुक्तकण्ठ से अभिव्यक्त की है। श्री आनन्देश्वर भैरव के अविर्भाव का दिन पौष मास की कृष्ण-पक्ष दशमी को आयोजित होता है और इसी दिन महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इसकी रचना की है और रचनाकाल का काल-परिचय भी स्तोत्र की "पुष्पिका" में प्रस्तुत

किया है। अर्थात् "वसुरस पौषे कृष्ण दशम्यां अभिनवगुप्तः स्तवमिदं अकरोत्" (अर्थात् चान्द्र पौष महीने की कृष्ण-पक्ष दशमी, विक्रमाब्दि 968)

आगे के प्रकरण में उपनिषद्-युग के ऋषियों के मानव कल्याण का शान्तिपाठ और ज्ञानर्द्धक मोक्ष-सूक्तियों का संकलन है, पर चौथी मुक्ति-सूक्ति को दक्षिण भारत के "दण्डी-स्वामी नरायणम्" एंव गुरुदेव स्वामी श्रीराम के आपसी अभिवादन को स्पष्ट करके, सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस घटना का उल्लेख दण्डी स्वामी नरायणम् के यात्रा - वर्णन (Travel Account of Dandi - Swami Narayanam 137 (Kashmir), Bandarkar Institute PUNE Library 1985) में इस प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है:-

"कश्मीर के ऋषि, शैवयोगी सन्त एवं साधुओं के दर्शन, समागम और सत्संग के उपरान्त एक दिन श्रीनगर अखाडे के भैरव-मन्दिर के पुजारी को मार्गदर्शक के रूप में साथ लेकर, मैं स्वामी श्रीराम को मिलने गया। ये निस्सन्देह आश्चर्य का विषय है, जब कुटीर की पहली सीढी पार की तो एक शंका का समाधान हुआ, दूसरी सीढी पर चढते ही दूसरी शंका स्वतः हल हुई, और तीसरी सीढी को पार करते ही मेरी सब से उलझी समस्या निर्मूल हुई। मैं घड़ी भर के लिए ठिठक कर रह गया कि क्या आगे चलना चाहिए ? पर मुझे रुका हुआ देखकर मन्दिर से मेरे साथ आए हुए पुजारी ने मुझे आगे चलने के लिए कुछ बोले और मैं कुटीर में साभिवादन के साथ अन्दर आया और उस दिव्य,

भव्य और सौम्य मूर्ति का मैंने इस प्रकार अभिवादन किया:-

आनन्दात् खलु इमानि भूतानि जयन्ते आनन्देन,
जातातिं जीवन्ति आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति आनन्दं ब्रह्म॥

(आरती पृष्ठ 63)

परंपरा के अनुसार गुरुदेव स्वामी श्रीराम को उपनिषद् की इसी पावन सूक्ति को अभिवादन के उत्तर में दोहराना था। पर उन्होंने इस कारण नहीं दोहराया क्योंकि उपयुर्क्त सूक्ति में 'आनन्द' शब्द स्वतः प्रमाता न होकर प्रमेय है यथार्थ में गुरूदेव स्वामी श्रीराम प्रामतृ (उत्तम-पुरूष) के समावेश की कोटि में पहुँच चुके थे। अतः उपनिषद् के इस सूक्ति को दोहराने का प्रश्न ही नहीं उपजता था। इस कारण स्वामी गुरूदेव श्रीराम ने अपनी अपरिभित-प्रज्ञा के आसूत्रण से नितान्त-नवीन विशुद्ध-सूक्ति का सद्य-निर्माण करके दण्डी स्वामी नारायणम् का सहर्ष अभिवादन किया:-

"मत्तो वा इमानि भूतानि जायन्ते, मयि जातानि-
जीवति मां प्रयन्ति अभिसंविशन्ति अहमेव ब्रह्म"

(सूक्तिकार: "महामाहेश्वराचार्य श्रीराम")

अभिवादन के उपरान्त दण्डी स्वामी जी के निम्न श्लोक को घनगंभीर उच्चार से गाकर गुरूदेव स्वामी श्रीराम का भावार्चन किया:-

''श्रीकण्ठ: स्वविर्शेन ह्याविभूतो भहीतले।
ततान शैव शास्त्राणि लोकाननुग्रहकामया।।''

''अर्थात् स्वयं शिव ही गुरूदेव श्रीराम के स्वरूप में पृथिवी पटल पर अवतीर्ण होकर जनकल्याण और लोक-अनुकम्पा के लिए शैव शास्त्रों के चिन्तन एवं मनन के लिए दत्तचित होकर विराजमान हुए हैं।''

इस प्रकरण के आगे पंञ्चस्तवी आदि शाक्त रचनाओं के श्लोकों का संकलन है। इनकी प्राथमिकता इस कारण वर्चस्वनीय बन आई है कि गुरुदेव श्रीराम, इन श्लोकों का स्तवन प्राय: किया करते थे और इन्हे गुनगुनाने के साथ समाधि मे विलीन हुआ करते थे। आगे के प्रकरण में स्व0 नारायण शास्त्री (ज्योतिषी) द्वारा रचित गुरू-स्तवन की श्रद्धा-भक्ति का प्रवाह है। इसी श्रृखंला में स्वामी विद्याधर द्वारा रचित गुरूगरिमा की प्रवाहिणी हरमुकट-गंगा का गुरु गंभीर निनाद के सात स्वरों का सामगान है और आत्म-मन्थन की चेतना का आत्म-साक्षात्कार है। इस के उपरान्त स्वामी महताभकाक, स्वामी गाशकाक और स्वामी विद्याधर की स्तुति का प्रभात स्मरण आता है जो गुरूदेव स्वामी श्रीराम के अनन्य शिष्य एवं कृपा पात्र रहे हैं।

इस परंपरा में गरिमाशाली गुरूदेव स्वामी गोविन्द कौल जलाली जी की प्रतिष्ठा, स्थान एवं योगदान, अद्वितीय रहा है। स्वामी गोविन्द कौल स्वत: ''कौलकी पराशक्ति'' के शक्तिपात के फलस्वरूप तप:-पूत होकर सदेह में रहकर भी विदेह थे। उनका

अणु-अणु और कण्-कण् गुरुसेवा के कारण विशुद्ध और निर्मल बन चुका था। प्रस्तुत प्रकरण में उनकी जन्म कुण्डली एवं गुरू-स्तुति का स्तवन है। आगे के प्रकरण में तीन विशिष्ट शैव श्लोकों का प्रकरण आता है, जिन में (क) आणवमल, (ख) मायामल और (ग) कार्ममल के विमुक्ति का शंखनाद घनगम्भीर स्वर में अनुगूजँता हैं। इसके उपरान्त अष्टपदी श्लोक के शाक्त-स्वरूप का प्रकरण आता है। शिवोपाध्याय कुल में जन्मे स्व. आनन्द जुव पंडित (पुरूषयार, श्रीनगर कश्मीर) महोदय की बद्धमूल मान्यता यह रही है कि आचार्य अभिनवगुप्त अपने अन्तिम दिनों में इस "शाक्त-मन्थन" के श्लोक को गुनगुनाकर महासमाधि में आप्लावित हुआ करते थे। इस अष्टपदी श्लोक के प्रतिबिम्ब में पराभट्टारिका महराज्ञा भगवती के शुक्ल अष्टमी के शाक्त - परामृत का रहस्य कूट-कूट के संचित है।

आगे के प्रकरण में गुरूदेव स्वामी श्रीराम की एक अनुपम एवं पावन-अभिव्यक्ति का शाक्त-बिम्ब है। जिस शाक्त-बिम्ब के माध्यम से गुरूदेव ने भगवान श्रीकृष्ण के आगमन को परा-भट्टारिका के अनुग्रहकारी इच्छा का साकार रूप माना हैं। इस सूक्ति को स्व0 मधुसूदन साबन्यू (राजधान, गणपतयार) ने लिपिबद्ध करके सुरक्षित रखा है।

गुरूदेव स्वामि गोविन्द कौल के निवार्ण के उपरान्त महात्मा ताराचन्द्र का योगदान श्रीराम शैव (त्रिक) आश्रम के विकास, उत्थान, प्रसार और प्रचार की दिशा में महत्वपूर्ण रहा है। अग्रिम

प्रकरण में महात्मा ताराचन्द्र का स्तवन आता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर क्रम से समापन पाठ का प्रकरण आता है। इससे श्रीराम शैव (त्रिक) आश्रम की आरती के प्रथम सर्ग का इतिश्री होता है। इसके दूसरे सर्ग में महामाहेश्वराचार्य उत्पलदेव के विश्वमेध और आत्ममेध के व्यापक-बिम्ब को प्रस्तुत किया है। इसमें "शिवसूत्र" के "शरीर हवि" का साक्षात्कार होता है। आचार्य उत्पलदेव के इस बिम्ब में काल और दिशा (Time and Space) की परिधि का अनिर्वाचनीय बोध है। इस बिम्ब को शैवयोगिनी ललद्यँद ने भी प्रस्तुत किया है।

"अन्दरैय आयस् चन्दरैय गारान"

अग्रिम प्रकरण में "शिवस्तोत्रावली" का एक आंशिक परिचय प्रस्तुत किया है और अन्ततः आचार्य उत्पलदेव के "शिवस्तोत्रावली" के संग्रह-स्तोत्र और पारमार्थिक पावन-ग्रन्थ से कुछेक दिव्य एवं भव्य सूक्तियों को समेटने का प्रयास हुआ है।

स्पष्ट वस्तुस्थिति तो यह है कि श्रीराम (त्रिक) शैवाश्रम की प्रस्तुत शैव-स्तवन की आरती का संस्करण गोल-गुजराल-जम्मू के श्रीराम (त्रिक) शैवाश्रम शाखा ने 2004 ई0 में प्रकाशित किया था, पर प्रूफ-रीड़िंग की असावधानी के कारण इस प्रकाशन में गलतियों की भरमार बहुत अधिक छा चुकी थी और सुधार का सुभीता नहीं के बराबर बन चुका था। इस कारण एक नया ही संस्करण और प्रकाशन अनिवार्य बन आया। इस संस्करण

में गलतियों की सावधानी का पूरा पूरा ध्यान रखा गया।

इस तथ्य का उल्लेख करना अनिवार्य बनता है कि श्री राम (त्रिक) शैवाश्रम फतेहकदल श्रीनगर कश्मीर तथा श्रीराम (त्रिक) शैवाश्रम सनतबस्ती रावलपुर बडगांम कश्मीर, इन दोनों ही आश्रम स्थलों पर प्रस्तुत आरती का स्तवन विधिपूर्वक होता है। रावलपुर सनतबस्ती के आश्रम के आदरणी श्री जवाहर लाल (रफिज़) और श्रीमदन लाल तिकू जी इसकी देखरेख करते है। श्रीनगर, फतेहकदल के आश्रम की देखरेख श्री रोशनलाल जी और श्री नन्ना जी करते है। इस प्रकार से दोनों ही आश्रमों की व्यवस्था मार्च 1990 ई0 के उपरान्त अवस्थित रूप से चल रही है। आश्रम की इस आरती या स्तवन का यह संकलन महामहेश्वराचार्य स्वामी श्रीराम ने स्वयं अपनी आलौकिक भिन्न-भिन्न दिव्य आध्यात्मिक अवस्थाओं के सहज-समाधि के समावेश के अवसरों पर किया है। स्वामी जी के पट्ट-शिष्य स्व. मधुसूदन साबन्यू (राज़दान) का कहना है कि महामाहेश्वराचार्य स्वामी श्रीराम ने शारदा-लिपि में स्वयं अपने हाथ से एक प्रति स्वयं लिखी थी। इसी के आधार पर इस की और प्रतियाँ बनाई गई।। मूल-प्रति जो स्वयं महान् स्वामी ने लिखी थी वह स्व. सुदामा मिस्कीन जी ने अपने पास सुरक्षित रखी थी। पर वह प्रति अभी तक अज्ञात है।

प्रस्तुत प्रति महामाहेश्वराचार्य स्वामी श्रीराम के वंशज स्व0 बलभद्र भ्रारु (भट्टारक) के सौजन्य से उपलब्ध हुई है। यह

जीर्ण-शीर्ण प्रति शारदा लिपि में लिखी है। लिपिक का नाम अज्ञात है। गुरुदेव स्वामी श्रीगोविन्द की अपनी निजी प्रति से इसका तालमेल स्पष्ट बैठता है। स्व0 श्यामसुन्दर जतू (ज्योतिषि) की निजी प्रति और इन दोनों ही प्रतियों या पाण्डुलिपियों में एक समानता स्पष्ट है।

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद गुरुदेव स्वामी श्री गोविन्द कौल की अनुकंपा के फलस्वरूप संपन्न हुआ है। इसकी मौखिक-व्याख्या उनका ही आशीष है और मेरा सहयोग मात्र हिन्दी भाषा का रूपान्तरण का है। अतः अर्थ-स्पष्टि की व्याख्या में आर्ष-गुरुपरंपरा का साक्ष्य प्रस्तुत प्रयास में निश्चित रूप से सुरक्षित है। गुरुदेव स्वामी श्री महताभकाक जी गुरुसेवा के देखरेख में सर्वप्रथम रहा करते थे और उनके उपरान्त महामाहेश्वराचार्य स्वामी-श्रीराम की सेवा और देख रेख का कार्यभार गुरुदेव स्वामी गोविन्द कौल का हुआ करता था। इस प्रकार महान् स्वामी की छत्र छाया में स्वामी गोविन्द कौल जी को कश्मीर शैव दर्शन पर चिन्तन एवं मनन का एक सु अवसर बना रहा। इस तथ्य का साक्ष्य आश्रम में बहुचर्चित था। यह स्पष्ट है। स्वामी श्रीगोविन्द जी के भाषा का माध्यम ठेठ कश्मीरी था, इस कारण अर्थ-निर्णय करने में कहीं कोई चूक रह गई हो, निश्चय से वह मेरी बुद्धि की अधूरता है, उसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

इस आरती-स्तवन के मुद्रण प्रकाशन और आर्थिक-संपोषण में जिन्होंने उत्साहित किया है, उन आयुष्मानों की शुभसूची इस

प्रकार से है – श्रीबन्सीलाल गंजू, नार्गाजुन तथा अनीता गंजू, श्री तेज कृष्ण ज्योतिषी तथा गार्गीघोषा, अभिनव गंजू तथा ललिता गंजू, रवेन्द्र जाइडू तथा भारती जाइडू, अनिल ज़ाडू तथा सुजाता ज़ाडू, अश्वघोष गंजू एवं सरिता गंजू, रवि प्रदीप तथा ईश भट्ट, रवि धीरेन्द्र भट्ट तथा मंजू भट्ट, अनिल घोष तथा रेणु घोष (दत्त) उन्मेषघोष तथा प्रज्ञाघोष अभिषेक कृष्णा विशेष आशीष के पात्र है। स्नेही प्राणनाथ भट्ट और बहिन शन्ता का सहयोग सक्रिय रूप से बना रहा। आयुष्मती वरदा घोष ने इस प्रयास में अवश्य अदनी मुस्कान का बार बार वरदान दिया।

अन्त में प्रकाशक स्नेही विजय हण्डू के प्रति आभार स्वयं में साभार है।

गुरुपूर्व जयन्ती

श्रीनगर–कश्मीर, पौषकृष्ण द्वादशी

2008 ई0

विनीतकः

त्रिलोकीनाथ गंजू

(श्रीराम (त्रिक) शैवाश्रम)

1. फतेहकदल श्रीनगर कश्मीर
2. सनतबस्ती, रावलपुर, बडगांम, कश्मीर

पुष्पांज्जलि

ॐ महामाहेश्वराचार्य श्रीराम गुरवे नमः

स्वात्माहन्तापदे मग्नं इदन्तायां च संस्थितम्,
अनुग्रहपराविष्टमणुकारुण्य प्रेरितम्।
शैवागम विमर्शेन सञ्चितासंस्तुतिरियम्,
तं गुरूं रामनामाख्यं वन्दे स्वात्मन्यवस्थितम्।।

(डॉ. त्रिलोकीनाथ गंजू)

जो गुरुदेव महामाहेश्वराचार्य श्री राम सदा ही अपने से अभिन्न अपने उत्कृष्ट स्वभाव के समावेश में मग्न होकर भी बाह्य विस्तारित इदन्ता का सदा ही अपने स्वातंत्र्य स्वरूप में अनुशीलन करते ही रहते हैं, उसी विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण सौभाग्य से संपन्न गुरूदेव ने विश्वमानव के कल्याण के लिए करुणाविह्विलित होकर असाधारण अनुग्रह (अनुकम्पा) के फलस्वरूप और अपने नैसर्गिक उन्मेष के कारण अपने स्वाभाविक आनन्द के उन्माद में शैव दर्शन का मन्थन करने उपरान्त कल्याणप्रद शाक्त-अमृत के ज्ञान-विज्ञान के सूक्तियों का संकलन अपने कर-कमलों से किया, उसी अपने से अभिन्न, शिवस्वरूप गुरूदेव श्रीराम को, जो स्वतः ही मुझ में अवस्थित है, प्रणाम करता हूँ।

श्री रामानुकम्पायापूतं,
गोविन्दं गुरुवरोत्तमम् ।
चेतसा भावयाम्यहम्,
सदा स्वात्मन्यवस्थितम्।।

(डॉ. त्रिलोकीनाथ गंजू)

महामाहेश्वराचार्य श्रीराम की परम-पावन करुणा से अभिषिक्त अपने शालीन गुरूदेव स्वामी श्री गोविन्द का ध्यान-संलग्न अपनी भावमय चेतना में निरन्तर स्मरण कर रहा हूँ, उस अपने से अभिन्न, गुरूदेव के चेतना का बिम्ब प्रथमतः ही मुझ में ओतप्रोत होकर रोम-रोम में रम चुका हैं।

अथ गुरू-स्तुति

अगाधसंशयाम्बोधि समुत्तरण तारिणीम्।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम्॥१॥

मैं उस अलौकिक गुरूभारती (शाम्भवी-शक्ति) का प्रणमन करता हूँ, जिसके विचित्र पद (प्रमाण) और सार-गर्भित अर्थ (प्रमेय) इस गंभीर संशय-रूपी सागर को पार करने के लिए नौका का आश्रय उपलब्ध कराके पार उतारते हैं॥

अनाद्यायाखिलाद्याय मायिने गतमायिने।
अरूपाय सरूपाय शिवाय गुरूवे नमः॥२॥

मैं अपने से अभिन्न शिवस्वरूप गुरूदेव को प्रणमन करता हूँ जो आरम्भहीन होकर भी इस कास्मिक-विश्व का आरम्भ है, जो निजी माया से संवलित होकर भी मायातीत है, जो आकार रहित होकर भी साकार है जो विश्वमय होकर भी स्वतः विश्वोत्तीर्ण है।

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तंयेन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरूवे नमः॥३॥

मैं, अपने से अभिन्न गुरूदेव के चरणों का प्रणमन करता हूँ, जिनके चरणों की अनुकम्पा के फलस्वरूप ब्रह्माण्ड के अणु-अणु और कण्-कण् में व्याप्त शिव के व्यापक स्वरूप का समावेश संभव बनता है।

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरून्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

मैं अपने से अभिन्न गुरूदेव का प्रणमन करता हूँ। जिन्होंने अपार अनुकम्पा करके मेरी इन अज्ञान की आँखों पर ज्ञान-प्रकाशरूपी काजल की सलाई फेर कर वास्तविक परमार्थ का समावेश कराया।

आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं यस्य मे गुरुसन्ततिः।
तस्य मे सर्वशिष्यस्य को न पूज्यो महीतले।।

मेरी इस अभिन्न और अछिन्न गुरु परंपरा का विस्तार स्वतः परंब्रह्म से लेकर आधारभूत इस पृथिवी-तत्त्व तक परिव्याप्त है, अर्थात् शिव तत्व ही स्वयं अपने स्वतंत्र्य से अवरोहन और आरोहन करके पृथिवी-तत्त्व से पुनः शिव-तत्त्व को और शिव-तत्त्व से पुनः पृथिवी-तत्त्व में आर्विभाव होते हैं। अतः सब ही तत्वों का शिष्य होने के नाते सब ही मेरी पूजा के योग्य हैं।।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुः साक्षात्महेश्वरः।
गुरुरेव जगत्सर्व तस्मै श्री गुरुवे नमः।।६।।

वास्तव में गुरूदेव ही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है, गुरूदेव ही पालनकर्ता विष्णु है और गुरूदेव ही संहारकर्ता शिव है। यथार्थ में यह विद्यमान जगत भी गुरूदेव का ही स्वरूप हैं। इस प्रकार अपने से अभिन्न गुरूदेव को नमस्कार हो।।

नमामिसत्गुरुंशान्तं प्रत्यक्षं शिवरूपिणम्।
शिरसा योगपीठस्थं धर्मकामार्थसिद्धये ॥७॥

मैं साक्षात् शिवरूप गुरूदेव का नमण करता हूँ और अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए उनके योग-पीठ के पावन-स्थल पर अपना सर झुका कर उपासना आरम्भ करने का अभिलाषी हूँ।

ध्यानमूलं गुर्रोमूर्ति पूजामूलं गुरोः पदम्।
शास्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलंगुरोः कृपा ॥८॥

गुरूभक्ति से ओतप्रोतः साधक के लिए ध्यान का आलम्बन गुरूदेव का आकार है, पूजा की संपन्नता का आश्रय गुरूदेव के दो चरण कमल हैं। गुरूदेव के मुख से कहा हुआ वाक्य ही शास्त्र का सारग्राही तत्त्व है और गुरुदेव का अनुग्रह ही मात्र मुक्ति की उपलब्धि है।

यस्योन्मेष निमेषाभ्यां जगतः प्रलायोदयौ।
तं शक्ति चक्रविभवं प्रभवं शंकरं स्तुमः ॥९॥

जिस महादेव शंकर के उन्मेष अर्थात् पलक खोलने पर इस चराचर विश्व की अपार-अनन्तता का सृजन होता है, और जिस महादेव शंकर के निमेष अर्थात् पलक बन्द करने के उपरान्त इस चराचर विश्व की अपार-अनन्तता का संहार होता है। हम उसी, अपने से अभिन्न, शक्तिचक्र के ऐश्वर्य से संपन्न और अपार वैभवशाली शंकर की वंदना करते हैं।

नध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवा-भावसस्तं नुमो भक्तिशालिनम्॥१०॥

उस अपने से अभिन्न, सौभाग्यशाली भक्तवर को नमस्कार प्राप्त हो, जिस भक्तवर को ध्यान, जप और विधि-व्यवस्था के आयोजन किए बिना ही असाधारण शिव-स्वरुप का आभास संपन्न हुआ हो । ध्यान, जप और विधि-व्यवस्था को आयोजन में एक व्यावहारिक क्रमिक विकास बना रहता है, पर आचार्य उत्पलदेव का संकेत समावेश-संपन्न भक्तवर की ओर से है। आचार्य उत्पलदेव की यह उक्ति ''एवमेव शिवाभास'' व्यंग्यार्थक है, अर्थात् इस अनिर्वचनीय एवं अलौकिक शिवाभास का साक्षात्कार।

उद्धरत्यन्धतमसात् विश्वमानन्दवर्षिणी।
पूरिपूर्णाजयत्येका देवी चिच्चन्द्रचन्द्रिका ॥११॥

शिव के चैतन्य स्वरूप की चन्द्रिका अर्थात् प्रकाश स्वरूपा सं वित् भगवती का जयजयकार हो, जो साधक के गहन अज्ञानरूपी अन्धेरे को समूल विनष्ट करके उसे प्रकाश-संपन्न अवस्था में पहुँचाती है तथा जो स्वतः स्वयं में परिपूर्ण होने के कारण, अपने से अभिन्न समस्त विश्व को उल्लासमय वर्षा से विभोर करती है।

नौमि चित्प्रतिभां देवीं परां भैरवयोगिनीम्।
मातृमान प्रमेयांश शूलाम्बुजकृतास्पदाम्॥१२॥

मैं अपने से अभिन्न चेतनारूपी प्रतिभा से संपन्न संवित् भट्टारिका को नमस्कार करता हूं, जो सदा अभिन्न-उत्कर्ष से

शिव स्वरूप में अवस्थित है, तथा जो प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण स्वरूप के अंश से युक्त होकर त्रिशूल अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रियारूपी पांखरियों के कमल पर सदा विराजमान होकर रहती है।

नौमि देवी शरीस्थां नृत्यतो भैरवाकृतेः।
प्राघणमेघनव्योम विद्युल्लेखा विलासिनीम्॥१३॥

मैं, अपने ही शरीर में अवस्थित शक्तिरूपी संवित् भट्टारिका को प्रणाम करता हूँ, जो भैरव की अविभाज्य शक्ति के रूप से सृष्टि, स्थिति और संहार का विलासमय नर्तन उसी प्रकार से करती है, जिस प्रकार वर्षाऋतु के अवसर पर गहरे-घने बादलों से ढके आकाश में से छूटती कौंध विलास करती है।

प्रसरच्छक्तिकल्लोल जगल्लहरिकेलये।
सर्वसम्पन्निधानाय भैरवाम्बोधये नमः॥१४॥

मैं समग्र संपत्ति के स्रोत अर्थात् चेतना के प्रवाहशील सागर को नमस्कार करता हूँ। इस भैरवरूपी चेतना के सागर में उभरी, बिखरी और नृत्य करती इन लहरों में अनन्त जगतों का सृजन, संरक्षण और संहरण अबाधरूप से बना ही रहता है। यही उसका स्वतंत्र्य है, और यही उसकी अपनी लीला है॥

प्रसरद्बिन्दुनादाय शुद्धामृतमयात्मने।
नमोऽनन्त प्रकाशाय शंकरक्षीर सिन्धवे॥१५॥

उस विशुद्ध अमृतरूप शंकर-संबन्धी क्षीर सागर को नमस्कार हो, जो अबाध, अनन्त और परिपूर्ण है तथा जो नाद (ज्ञान) और बिन्दु (क्रिया) शक्तियों से उल्लासमय होकर अवस्थित है, अर्थात् जो अपने से अभिन्न शिव तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व तक विलासशील बना रहता है।

विश्वैकरूप विश्वात्म विश्वसर्गादिकारणम् ।
परप्रकाशपवुषं स्तुमः स्वच्छन्द भैरवम्॥१६॥

हम अपने से अभिन्न स्वच्छन्द एवं स्वतंत्र्य भैरव की स्तुति (गुणगान) करते हैं, जो विश्व के साथ अनुस्यूत एवं संलग्न है और जो इस विश्व की आत्मा है, तथा जो स्वतः सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह के द्वारा इस समस्त विश्व का उन्मेष (सृजन) और निमेष (संहार) सतत करता ही रहता है। प्रकाश और विमर्श जिसकी अलौकिकता है और जो विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण अर्थात् बाह्य-जगत और इस जगत से उत्तीर्ण जगत में भी स्वतः परिव्याप्त है।

जयन्ति जगदानन्द विपक्षक्षपण क्षमाः।
परमेश मुखोद्भूत ज्ञानचन्द्रमरीचयः॥१७॥

परमशिव के पावन मुख से ज्ञानरुपी चन्द्रमा की प्रवाहित किरणें विजयशाली हो। जो ज्ञान-रूपी किरणें कृष्ण-पक्ष के अज्ञान रूपी अन्धकार को हटाकर प्रकाशमय बनाती है।।

विश्वत्मिकां तदुत्तीर्णां हृदयं परमेशितुः।
परादि शक्तिरुपेन स्फुरन्ती संविंद नुमः॥१८॥

अपने से अभिन्न चैतन्य-शक्ति अर्थात् संवित् भगवती का प्रनमण हो, जो स्वतः विश्वमय होकर भी, अर्थात् यह दृश्यमान जगत (Objective Universe) की सत्ता होने के उपरान्त भी इससे उल्लंघित है। इस उल्लंघित अवस्था को शैवदर्शन ने "विश्वोत्तीर्ण" का नाम दिया है (शैव दर्शन इस विद्यमान जगत और इससे हटकर एक और जगत अर्थात् विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण और दोनों को सत्य मानता है) तथा जो संवित् भगवती अर्थात् महामाया, परमशिव की अभिन्न शक्ति स्वयं आधारभूत गतिशील हृदय है, एवं जो अपार विश्वचेतना (The Universal Consciousness) स्वयं परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के माध्यम से उत्तरोत्तर होकर चेतना का सृजन करती है। अर्थ-बिम्ब इस प्रकार से भी संभव बन पाता है, अर्थात् जो विश्वचेतना परा, अपरा और परा+अपरा इस विश्वमयता तथा इससे हट कर या उल्लंघित होकर विश्वोत्तीर्णता (Subjective-Universality) को अर्थात् इस

प्रकार आपस में तालमेल बिठाती है। शिव की इस प्रकार चेतना-प्रवाह (Stream of Conciousness) रूपी संवित्-शक्ति को नमस्कार हो।

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने।
चिदानन्दघन स्वात्म परमार्थावभासिने ॥१९॥

अपने से अभिन्न परमशिव का प्रतिक्षण-प्रतिपल प्रणमन हो, जो परमशिव सतत् सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह (अनुकम्पा) के द्वारा बाह्य-विकास या सृजन की प्रक्रिया करते ही रहते हैं, तथा जो अपने से अभिन्न शिव, स्वात्म स्वरूप के परमार्थ में सदा ही चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया में ओतप्रोत होकर रहते हैं। वास्तव में यह श्लोक परमशिव के बाह्य और अन्तः स्थिति का बोध प्रस्तुत करता है। विश्वमयता के पक्ष में सृष्टि, स्थिति संहार, विलय, अनुग्रह की स्वच्छन्द, प्रक्रिया बनी रहती है और विश्वोत्तीर्ण के पक्ष में चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया की स्वातंत्र्य प्रक्रिया बनी रहती है। इस अन्तः एवं बाह्य अर्थात् स्वात्म-पञ्चकृत्य अर्थात् चिद्, आनन्द आदि, जो वास्तव में असीम परमार्थ का बोध प्रस्तुत करते हैं, तथा सृजनात्मक-पञ्चकृत्य, अर्थात् सृष्टि, स्थिति आदि जो वास्तव में सीमित परमार्थ का बोध प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार बाह्य एवं अन्तः अर्थात् सृजन की विधायक -शक्ति और अन्तर के परमार्थ का अवभास देनेवाली शक्ति को नमस्कार हो।

अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी।
कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभु ॥२०॥

परमशिव को स्वतः अपनी ही संवित्-शक्ति अपार आनन्द की मुद्रा में विभोर करके सृजन की ओर इन्हे उन्मुख करती है। वही परमशिव की अभिन्न एवं अनन्य संवत्-शक्ति ''कौल'' कहलाती है, जिस पराशक्ति के संपर्क एवं अभिन्न भाव से सृजन की प्रक्रिया संभव बन पाती है।

विशेष-स्पष्टीकरण :-

'कौल' एक पारिभाषिक शब्द-बिम्ब है, जो मूलतः 'कुल' की प्रकृति से उभर कर आया है। स्वतः 'कुल' शब्द बहु-अर्थदर्शी प्रकृति का है। शैव परंपरा में 'कुल' का अर्थ है। कुण्डलिनी-शक्ति और 'अकुल' का अर्थ है परमशिव। 'कुल' का भाव या कर्म 'कौल' कहलाता है। इस का स्पष्टीकरण ''स्वच्छन्द-तंत्र' में इस प्रकार से उद्धृत हुआ है:-

कुलं शक्तिरिति प्रोक्रमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यमिधियते॥

'कुल' का सामान्य अंर्थ है शक्ति-तत्त्व, और 'अकुल' का सामान्य अर्थ है परमशिव-तत्त्व, निष्कर्षतः 'कुल' और 'अकुल' का ऐक्य ''कौल'' कहलाता है।

'कुलाम्नाय-तंत्र में 'कुल' की परिभाषा का समाधान इस प्रकार से प्रस्तुत हुआ है:-

"मेढ्रस्यधः कुलो ज्ञेयो"

मूलाधार के नीचे कुल की स्थिति का बोध जानना चाहिए। 'विज्ञान-भैरव' ग्रन्थ में विसर्ग को कौलकी-शक्ति स्वीकारा गया है:-

"विसर्गः कौलकी शक्ति"

'परात्रिंशिका-ग्रन्थ' में आचार्य अभिनवगुप्त 'कुल' शब्द पर प्रकाश डालते हुए कहते है:- "परमेश्वरस्य भैरवभानोः रश्मिचक्रात्मकं निजभासास्फारमयं कुलम्" अर्थात् परमेश्वर के भैरव-रूपी सूर्य के किरणचक्र की स्वरूपयुक्त अपनी प्रकाश-मयता का विस्फार 'कुल' है अर्थात् वर्णों का उन्मेष अर्थात् 'अकुल' की स्वात्मलिप्त स्थिति से बाहिर आना ही 'कुल' कहलाता है।

चतुर्दशयुतं भद्रे तिथीशान्त समन्वितम्।
तृतीयं ब्रह्मसुश्रोणि हृदयं भैरवात्मनः ॥२१॥

हे कल्याण करने वाली भगवती ! प्रतिपद्य से लेकर चतुर्दशी के समेत चौदाह दिन तथा तिथियों के अन्त पर आने वाले अमावस्या के समेत जो यह नर रूप तीसरा ब्रह्म है। शुद्ध चिन्मयी देवी ! वही मुझ भैरव का हृदय है।

विशेष स्पष्टीकरणः-

यह उद्धृत श्लोक में आचार्य अभिनवगुप्त के परात्रिंशका का नौवां श्लोक है। वस्तुतः यहां पर चौदह की संख्या से तात्पर्य स्वर-मातृका चक्र से है। इस गणना के दो क्रम है।

प्रथमक्रमः-

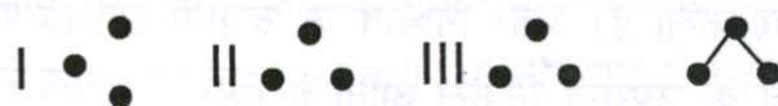
अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ (कुल संख्या 14)

द्वितीयक्रमः-

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ + ॠ, लृ + लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः (कुल संख्या 14)

प्रथमक्रम में अनुस्वार और विसर्ग रह जाते हैं अर्थात् "अं" और अः। इस परिप्रेक्ष्य में आचार्य स्वतः इस बात की स्पष्टि करते हुए कहते हैं:-

अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ (कुल स्वर संख्या 14) तथा "बिन्दुत्रयविभूषिता" अर्थात् अनुस्वार अथवा ऊपर की बिन्दी और विसर्ग, अर्थात् पीछे की दो बिन्दियाँ, इस प्रकार त्रिकोणात्मक एक आकार का सृजन बनता है:-



परन्तु परात्रिंशिका के कथन के आधार पर "विसर्ग" वस्तुतः यहाँ पर विश्रान्ति का अर्थ-बिम्ब दरशाता है:-

''स विसर्गो महादेवि! यत्र विश्रान्तिमृच्छति''

यहाँ इस श्लोक में चतुर्दश से संश्लिष्ट-संबन्ध है और तिथी-शान्त से विसर्ग शक्ति का संकेत है।

इस प्रकार ''अ'' स्वर और चान्द्रतिथि के प्रतिपद्य (एकं, कश्मीरी ओकदोह) से लेकर चतुर्दशी तिथि के अन्त तक चौदेह की संख्या आती है और ''अनुस्वार'' स्वरों का अनुसरण करने के कारण अलंग्रास- (अर्थात् सब को अपने मे समेट लेना) करके अमावस्या की तिथि में गर्भित होता है। अमावास्या या अमा की परिभाषा इस प्रकार से है:-

''अमा नाम रवे:रश्मिर्यस्यां वसति चन्द्रम:''

इस प्रकार मातृका-चक्र के आधार पर अनुस्वार और चान्द्रतिथि के पक्षिक क्रम अमावस्या की संख्या पन्द्रहवीं आती हैं शक्ति-मत में अमावस्या कालमञ्जरी है और तंत्र के आधार पर यह गोपनीय अमृत-कला है और पूर्णिमा में विलय होने के उपरान्त 'अमृत-प्रवाहिणी' इसका स्वरूप बनता है। तंत्रों का साक्ष्य यह दोहराता है कि पूर्णिमा सौभाग्य-कला है। इस कारण छिटकती चाँदनी का स्वरूप है और अमृत-प्रवाहिणी के अधिकार से सशक्त है। 'विमला' सत्तरहवीं कला है जो परात्रिंशिका के आधार पर अनुत्तर कला है। अत: निष्कर्ष के रूप में साभिप्राय तात्पर्य यही खोज के उपरान्त निकल आता है कि:-

''चतुर्दश स्वरोपेता बिन्दु त्रयविभूषिता''

चान्द्र सम्बन्धी चौदाह तिथियों या चौदाह स्वरों के उपरान्त तिथियों की गणना और स्वरों की गणना समाप्त होती है। इसके उपरान्त अमा-कला, शोडषी-कला और विमला-कला का उत्तरोत्तर उदय होता है और मातृका-चक्र में अनुस्वार और विसर्ग को ''बिन्दुत्रय विभूषिता'' की सार्थकता प्रदान की है। इस तथ्य को श्री आद्यनाथ, ''अनुत्तर प्रकाश पञ्चाशिका'' ग्रन्थ में इस प्रकार व्यक्त कर चुके है:-

''शक्तित्रिशूले लीयत्ते चतुर्दश कलात्मनि''

अर्थात् अनुस्वार और विसर्ग की उपलब्धि पर चतुर्दशकला अर्थात् ''अ'' से लेकर ''ओ'' मात्रा तक और प्रतिपद्य (एक) से लेकर चतुर्दशी तक की भटकन या क्षुब्धता परिसमाप्त होती है। ''तिथि शान्त'' शब्द-युगल वस्तुतः उसी स्थिति का बोध प्रस्तुत करता है और फिर अमा-कला, शोडषीकला और विमला-कला का समावेश होता है और यही यथार्थ में भैरव रूप है अर्थात् भरण, रमण और वमन का स्वात्मबोध है। तत्त्वबोध के आधार पर इसका स्पष्टीकरण स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार से अभिव्यक्त किया है:-

''अन्तर्बहिष्करण त्रयोदशकं प्रकृत्या सह च चतुर्दश'', ''परा त्रिंशिका'' अर्थात् कर्मेन्द्रिय पाँच, ज्ञानेन्द्रिय पांच, मन, बुद्धि, अहंकार और प्रकृति, इनकी संख्या भी चौदाह है।

आद्यन्तरहितं बीजं विकसत्तिथिमध्यमगम्।
हृत्पद्मान्तर्गतं ध्यायेत् सोमांशं नित्यमभ्यस्येत्॥२२॥

आरम्भ और अन्त के रहित यह अनुत्तर अलौकिक हृदय-बीज अर्थात् "सौ:" बीज, जो सदा ही विकासमय तिथियों के बीच अनुस्यूत या संलग्न होकर रहता है तथा इस अलौकिक "सौ:" बीज को हृदयरूपी कमल में अवस्थित जानकर इसका विमर्श करना वांच्छनीय है। यह हृदय-बीजाक्षर अमावस्या (पन्द्रहवीं कला) की कला से उलंघित होकर या आगे चलकर षोडशी (सोलहवीं कला) कला में अवस्थित होने के कारण विमर्श के लिए आवश्यक है। इस अपने से अभिन्न हृदय-बीज के "सौ:" में से "औ" और "स" का परिहार या छोड़कर अन्तत: विसर्ग ही अर्थात् "अ:" शेष रहता है। "सौ:" हृदय-बीजाक्षर की "स" ध्वनि पृथिवी-तत्त्व से लेकर माया-तत्त्व तक का बोध प्रस्तुत कराती है और अन्तत: विसर्ग अथवा अ: या ":" या दो बिन्दु, यह दुई-बिन्दु शिव-शक्ति का प्रतीकात्मक बोध प्रस्तुत कराते हैं।

'मातृका-चक्र' अथवा वर्णमाला के उत्तरोत्तर क्रम से 'अकार' से लेकर अनुसार तक स्वरों की संख्या पन्द्रह तक आती है। इसी के अनुकूल तिथियों की संख्या प्रतिपद्य (एकम्) से लेकर अमावस्या तक पन्द्राह आती है। 'अमा-कला' तंत्रों के आधार पर 'अमृत-कलश' धारण करने के उपरान्त भी प्रवाहशील नहीं है और षोडशी अथवा पूर्णिमा-कला प्रवाहपूर्ण अमृत से भिगोती (छिड़कती) मुद्रा में तत्पर रहती है। अत: शाक्तामृत, अर्थात्

''शाक्त सम्बन्धी अमृत'' के साधक इसी षोडशी कला में ध्यानस्थ होकर अन्दर ही अन्दर अमृत का पान करते हैं

रक्षणीयंवर्धनीयं बहुमान्यमिदं प्रभो।
संसार दुर्गतिहरं भवद्भक्ति महाधनम्॥२३॥

हे प्रभु! आपका यह भक्तिरूपी धन निश्चयरूप से संरक्षण देनेवाला है और मनोबल को बढ़ाने वाला है अतः इसका विकास सम्मान के योग्य है। आपकी यह भक्ति इस संसार की दुर्गति को निवारण करने में समर्थशील और सशक्त है अर्थात् आवागमन के बन्धन से मुक्त करने में सक्षम है।

सर्वाशंकाशनिं सर्वालक्ष्मी कालानलं तथा।
सर्वामंगल्यकल्पान्तं मार्गं माहेश्वरं नुमः॥२४॥

परमशिव के शाक्त-मार्ग को नमस्कार हो, जो शाक्त-अनुभूति सब ही शंकाओं को दूर करने में वज्र के समान सशक्त है, तथा जो सभी दुर्भाग्यों अथवा अमंगलकारी परिस्थितियों को टालने में 'कालाग्नि-रुद्र' के समान सशक्त और सक्षम है, और जो विनाशकारी घटनाओं से छुटकारा दिलाने में कल्पान्त (युग-प्रलय) के समान समर्थशील है।

यस्मिन् सर्वंयतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥२५॥

मै उस, अपने से अभिन्न, अणु-अणु और कण्-कण् में परिव्याप्त अथवा विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण परमशिव के नमस्कार की मुद्रा में संलग्न हूँ। जिस परमशिव के स्वातंत्र्य में यह समस्त विश्व संगर्भित है और वस्तुतः जिसकी स्वछन्द इच्छा से संपूर्ण पदार्थ राशि का सृजन, पालन, संहरण और जो सब में अनुस्यूत और ओतप्रोत होकर, स्वयं, केवल स्वयं, सर्वशक्तिमान है।

तद्देवताविभव भावि महारीचि-
चक्रेश्वरायत निजस्थितिरेक एव।
देवीसुतो गणपतिः स्फुरदिन्दुकान्तिः
सम्यग्समुच्छलयतात् मम संविदब्धिम्॥२६॥,

यह सशक्त गणपति गणेश भिन्न-भिन्न इन्द्रियरुपी शक्तिशाली देवताओं के ऐश्वर्य से संपन्न तथा अपने अहन्ता-स्वरुप की महान्व्याप्ति से परिपूर्ण एवं जो छिटकती चन्द्र किरणों से शोभायमान है। यह परा भट्टारिका का गुण-संपन्न अद्वितीय और अनुपम बेटा, जो वास्तव में समस्त इन्द्रियरूपी शक्तिचक्र का स्वामी है, यह अपने से अभिन्न गणेश दयालुः होकर मेरी चेतना के सागर (Stream of Conciousness) को सतत बुदबुदाता ही रहे। (शाक्त सिद्धान्त में ''गणपति'', ''अपान'' की व्याप्ति का स्वरुप है और ''वटुक'' ''प्राण'' व्याप्ति का स्वरूप है)

विश्वत्रभावपटले प्रविजृम्भमाण-
विच्छेद शून्य परमार्थ चमत्कृतिर्या।
तां पूर्णवृत्यहमिति प्रथन स्वभावां-
स्वात्मस्थितिं स्वरसतः प्रणमामि देवीम्॥२७॥

अपने ही आपर हर्ष-उल्लास के रस से प्रेरित होकर, यह परासंवित् भगवती विश्व के समस्त पदार्थ राशि का सृजन अपने अबाध और अछिन्न परमार्थरुप से, इस सब का निर्माण अद्वितीय और अलौकिक रुप से करती है। यह सृजन एवं निर्माण अहं-परामर्श की पूर्णता के स्वभाव के फलस्वरूप ही अस्तित्त्व में आता है, इस प्रकार अपने ही प्रेरित स्वातंत्र्य से ही, अपने ही भित्ति पर अपने को सृजन करती है। इस प्रकार की असाधारण और अनिर्वचनीय संवित् भट्टारिका को, मैं अपनी ही अभिन्नता में प्रणाम करता हूँ।

चैतन्यपूरितमिदं निखिलं हि विश्वम्-
चित्तं चिदात्मनि यदास्तमुपति शश्वत्।
एवं चितेरपृथगेव स्वसंस्थितत्वात्-
उक्तो निरस्त करण परम समाधिः॥२८॥

यह अखिल विश्व एक ही अपार एवं अनन्त चेतना के स्पन्द से ओतप्रोत है और जब यह संकोचित चित्त अर्थात् मन, फिर से उसी अपने अभिन्न अपार एवं अभिन्न चेतना के सागर में अभेद भाव से विश्राम करता है। उस वेला पर संकोचित चित्त अपने अभिन्न स्वरुप के वास्तविक स्थैर्य को प्राप्त करते हुए, चेतना के

अपार सागर का एक अभिन्न अंग बनता है। इस अलौकिक अवस्था को शैव-दर्शन या शैव-साधना में समाधि कहते हैं। इस असाधारण शैव-समाधि में इन्द्रियाँ अस्त हुए बिना ही अपने-अपने प्रमेयों (Objective) के साथ अभिन्न स्वरुप से व्यवहार की प्रक्रिया का अछिन्न संपर्क रखते हुए भी अभेदता की समरसता अपनाते है।

विशेष स्पष्टीकरण:

शैव-दर्शन अथवा शैव-साधना में इन्द्रिय-निरोध अथवा यम-नियम आदि हठ एवं आरोपित अनुशासन की प्रक्रिया पर अधिक बल नहीं दिया जाता है। शैवदर्शन में समाधि की उपलब्धि के लिए, सहज-स्वाभाविक विकास के माध्यम से उत्पन्न चेतना के एक अखण्ड और व्यापक अनुभूति का समावेश आवश्यक है। 'प्रत्यभिज्ञा शास्त्र' के संस्थापक एवं शैवदर्शन के महान् आचार्य तथा साधक उत्पलदेव इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं:-

नाथ वेद्यक्षये केन दृश्योऽस्येकक: स्थित:।
वेद्यवेदक संक्षोभेनऽप्यसि भक्तै: सुदर्शन:॥

(श्री शिवस्तोत्रावली 8.1)

''अर्थात् अन्तर्मुख समाधि से बाह्य-जगत के मिट जाने पर स्वरूप का साक्षात्कार होना कोई भी उत्कर्ष नहीं है, उत्कर्ष तो तब उभर कर आता है, जब बाह्य-जगत (objective universe))का

भी अस्तित्व हो और अन्तः-जगत (subjective universe) का भी अस्तित्व हो और ऐसी स्थिति में स्वरूप का समावेश हो, यह साधक के लिए निश्चय ही एक पारमार्थिक उत्कर्ष है।''

स्वातंत्र्य शक्ति क्रमसंसिसृक्षा,
क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः।
तदेव देवी त्रयमन्तरास्ताम्,
अनुत्तरं मे प्रथयत्स्वरुपरम ॥२९॥

परमशिव, स्वतः, अनन्त और अपार स्वातंत्र्य-शक्ति से संपन्न इच्छा-शक्ति से देश और काल (Space and Time) की सीमा के क्रम से इस भेद-परक सृष्टि का सृजन नर-शक्ति के स्वरुप में अवतीर्ण होने के लिए उन्मुख होते हैं, अर्थात् सृष्टि का सृजन (Manifestation) आरम्भ होता है। पारमार्थिक रूप से यह सृजन सर्वज्ञ-शिव की ही निजी महान् विभूति है और अप्रतिहत ऐश्वर्य है। इस प्रकार नर-शक्ति के सृजन (Manifestation) के स्वरुप से जगत् की ओर अग्रसर होना और दिशा-काल (Space and Time) की सीमा में स्वयं ही अपने अबाध-स्वातंत्र्य से आबद्ध होना, निश्चय ही परमशिव के सर्वज्ञता की असीम व्यापकता है और निजी स्वातंत्र्य है। इस प्रकार इच्छा, ज्ञान और क्रिया की अपार शक्तियों से संपन्न तथा अपने अनुत्तर शक्ति-चक्र को प्रकट करके, मेरे स्वभाव में अभिन्नभाव से सतत विकसित होकर बना रहे।

परं परस्थं गहनादनादिम्,
एकं निविष्टं बहुधा गुहासु।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थम्,
त्वामेव शम्भुं शरणं प्रपद्ये ॥३०॥

मैं अपने से अभिन्न उस अलौकिक एवं असाधारण कल्याण करने वाले शिव के शरण में आकर उनको प्रणाम करता हूँ, जो अभिन्न शिव विश्वमय होकर भी विश्वोत्तीर्ण है, वह अभिन्न शिव अणु से भी सूक्ष्मतम है और जो अपने निजी स्वातंत्र्य में आरम्भ और अन्त के बिना अवस्थित है, जिस अभिन्न शिव की सत्ता अणु-अणु और कण्-कण् में अनुस्यूत हो कर निवास करती है और जो परमशिव एक होकर अनेकता में विभक्त है तथा स्वतः स्वयं सब का आश्रय है और जो चल एवं अचल में स्वतः परिव्याप्त है।

क्लेशान्विनाशय विकासय हृत्सरोजम्,
ओजो विजृंभय निजं नरिनर्तयङ्गम्।
चेतश्चकोर चिति चन्द्रमरीचिचक्रम्,
आचम्य सम्यगमृतीकुरु विश्वमेतत्॥३१॥

हे मेरे अपने अभिन्न संवित् रुपी चकोर! मेरे संकोचरूपी दुःखों का नाश कीजिए, मेरे हृदयरूपी कमल का प्रफल्लन (विकास, कमल की पांखुरियों का खिलना) कीजिए, अपने चिद्रूपी प्रकाश से प्रभावशाली बनाए तथा चेतनारूपी चन्द्रमा के किरणों

का आस्वादन कराके समस्त विश्व को अमृत से आप्लावित कीजिए, अर्थात् वर्षित कीजिए एवं भिगो दीजिए।

प्रकाशमाने परमार्थ भानौ,
नश्यत्यविद्या तिमेरे समस्ते।
तथा बुधा निर्मलदृष्टयोऽपि,
किञ्चिन्न पश्यन्ति भव प्रपञ्चम्॥३२॥

जब अपने से अभिन्न परमार्थ-रूपी सूर्य अर्थात् स्वत: अपनी चेतना का सूर्य प्रकाशित हुआ हो, ऐसी स्थिति में अज्ञानरुपी अन्धेरे का नाश होना स्वाभाविक ही बनता है। इस प्रकार की ज्ञान-वेला पर निर्मल दृष्टि से संपन्न तत्त्व-दृष्ट्रा साधक जगत की भेद-परकता को ज़रा भी नहीं अनुभव करता है, उस साधक को यह समस्त विश्व अपने अभिन्न स्वरुप में निर्द्वन्द्व भाव से दिखाई देता है।

प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्,
स च प्रकाशो न पृथक् विमर्शात्।
नान्यो विमर्शोऽहमिति स्वरूपात्,
अहं विमर्शोऽस्मि चिदेक रूप:॥३३॥

जो भी अवस्थित पदार्थ राशि है, वह तो यथावत् रुप से स्वत: प्रकाशमान है, प्रकाश के अस्तित्व के बिना उसका कोई भी अस्तित्व नहीं है। मात्र स्वत: प्रकाश ही प्रकाश है, और प्रकाश

की भी कोई सत्ता विमर्श के बिना नहीं है और विमर्श-शक्ति भी अहं-स्वरुप से भिन्न नहीं है अतः अहं-विमर्श स्वभवतः चिद् स्वरूप ही है।

ईसा की तेरहवीं-चौदहवीं शती की कश्मीर की शैवयोगिनी सन्ता लालेश्वरी अपने एक कश्मीरी वाक्य में प्रकाश-विमर्श को ओर भी स्पष्ट करते हुए कहलाती है:-

"आसुन" तुॅ भासुन सूॅती छुम"

"आसुनः" अर्थात् प्रकाश शक्ति, (अस्ति)

भासुनः अर्थात् विमर्श शक्ति, (भासति)

सूॅतीः अर्थात् अहं स्वरुप शक्ति (सोऽहं अत्र)

भवन्मय स्वात्मनिवास लब्ध,
सम्पद्व्राम्यर्चितयुष्मदंघ्रिः ।
न भोजनाच्छादनमप्य जस्रम्।
अपेक्षतेयस्तमहं नमामि ॥३४॥

जिस परमार्थ-प्रेमी अलौकिक और असाधारण साधक ने अपने चिद् स्वरुप में आपके दोनों चरणों अर्थात् ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति की अपार संपदा को धारण कर लिया हो तथा जो साधक भोजन और वस्त्रों की अपेक्षा से मुक्त हो चुका हो, उस ऐसे ही अद्वितीय भक्तवर की मैं वन्दना करता हूँ।।

निर्माणमोहा जितसंग दोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्त कामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुख दुःख संज्ञैः,
गच्छन्तिमूढाः पदमव्ययं तत् ॥३५॥

जिसका देहाभिमान (शरीर का अहंकार) और ममत्व का मोह मिट चुका हो, संगदोष पर जिन्होंने विजय प्राप्त की हो, जो सत्य और वास्तविक आध्यात्मज्ञान में मग्न हो चुके हों और जिनकी कामनाएँ पूरी तरह लुप्त हो चुकी हों, इसी प्रकार के वीर और धीर साधक जो तथाकथित सुख और दुःख से उलघिंत होकर निर्द्वन्द्व भाव की स्थिति पा चुका हों, इसी कोटि के ज्ञानी-साधक परमात्मा का के अविनाशी पद को प्राप्त करते हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि संन्निविष्टो,
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो,
वेदान्तकृद्वेद विदेव चाहम्॥३६॥

मैं ही परमात्मा अभिन्न रूप से सब के हृदय में प्रकाश-विमर्श रूप से अवस्थित हूँ। मेरे ही व्यापक अस्तित्व के फलस्वरूप ज्ञान-शक्ति, स्मृति-शक्ति और अपोहन-शक्ति (Removal, Reasoning faculty, Driving away)चेतना में आकर सक्रिय बनते है। चार वेद और उपनिषद् मेरे ही वास्तविक तत्त्व के जानने के लिए निरन्तर मेरी ही व्याख्या करते हैं, यथार्थ में मेरा ही स्वरुप जानने के योग्य है तथा मैं ही स्वयं वेदान्त का स्वरुप हूँ और वास्तव में वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ।

"द्वादश काली"

स्तोत्र के सन्दर्भ में कुछेक समाधान :-

कालचक्र (Cycle of Time) अथवा कालतत्त्व का प्रश्न मानव चेतना की चिर प्राचीन जिज्ञासा रही है। आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व ऋग्वेद के युग से लेकर आज तक काल, समय और इसकी गति समझने का और व्याख्यायित होने का प्रयत्न बराबर बना रहा हैं ऋग्वेद की वैज्ञानिक मान्यता कालचक्र के बारे में इस प्रकार से है:-

"द्वादश प्रधयः चक्रमेकं त्रीणिनम्यानि"

(ऋग्वेद संहित-1,164,48)

अर्थात् अनन्तकाल से चल रहा यह बारह महीनों का कालचक्र अब भी घूम रहा है। वैदिक-ऋषि इस बीत चुके काल को भूतकाल, प्रस्तुत में बीत रहे काल को वर्तमान काल और जो आगे बीतने के लिए बैठा हुआ काल है, वस्तुतः भविष्यत् काल है। इन्हीं तीन बिन्दुओं पर बारह राशियों का चक्र चलता ही रहता है और इस प्रकार बारह सूर्य कालतत्व की बुनाई करते हैं।

अथर्ववेद (काण्ड-18 सूक्त 53) में कालतत्त्व का विषद विश्लेषण प्रस्तुत हुआ है। महाभारत के आदिपर्व (अध्याय-247-251) में भी कालचक्र पर एक विशेष परिसंवाद मिलता है। द्वादशकाली अर्थात् बारह कालशक्तियों का विवरण आगम-ग्रन्थ 'क्रमस्त्रोत' में सुरक्षित है। ईसा-पूर्व दूसरी शती की

रचना ''पंचस्तवी'' के रचनाकार ने ''क्रमस्त्रोत'' का साक्ष्य प्रस्तुत किया है:-

''क्रमस्त्रोतोभिस्त्वं वहसि परनादामृतनदीम्''
(पंचस्तवी, सकलजननी पञ्चमः स्तव-१४)

हे महामाया भगवती ! क्रमस्त्रोत ग्रन्थ में तुम्हारा वर्णन प्रवाहशील अमृतनदी के अनुकूल प्रस्तुत हुआ है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने 'तंत्रालोक' अह्निक-4 श्लोक संख्या 146-175 की सीमा में काल-तत्त्व की स्पष्टि के लिए प्रामाणिक साक्ष्य के रूप में 'क्रमस्त्रोत' के इन द्वादशकाली के श्लोक को उदधृत किया है। इस सन्दर्भ में महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री जी की मान्यता के आधार पर 'क्रमस्त्रोत' आगम-ग्रन्थ का रचनाकाल ईसा पूर्व चौथी-पाँचवीं शती का रहा हैं महामहोपाध्याय श्री हर प्रसाद जी के 'क्रमस्त्रोत' की पाण्डुलिपि ग्रन्थ का साक्षात्कार नेपाल-पाण्डु-लिपि पुस्तकालय में स्वयं किया है।

(इन्सटियूट जनरल व्लूम पार्ट-1) (1943)

तिब्बत के बुस्तोन लामा महोदय ने अपने तिब्बती भाषा के दो ग्रन्थ कन्जुर और तंजुर में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि कश्मीर के तांत्रिक एवं आगम-ग्रन्थों के गम्भीर एक गहन प्रभाव के कारण, तिब्बत में तात्रिक कालचक्र का एक आध्यात्मिक संस्कार विकसित हुआ और इसके फलस्वरूप बौद्ध-तांत्रिक

संप्रदाय में कालचक्र-यान का दर्शन उभर कर आया है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ जी ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण अपने एक लेख में किया है

(इन्सटियूट जनरल व्लूम पार्ट-2) (1944)

कश्मीर के मार्तण्ड-ब्राह्मण (वैदिकसंग्रह) में काल या समय की व्याख्या इस प्रकार से प्रस्तुत हुई है:-

"नित्यशः कालशकृया"

"मार्तण्ड-ब्राह्मण-48"

अर्थात् काल स्वयं में एक ऐसा अपूर्व शक्ति-तत्त्व है कि इस अजर और अमर काल-तत्त्व के चारों ओर सब ही परिक्रमा करते ही रहते हैं। भारतीय संस्कृति के महान् विद्वान महाराज भर्तृहरि का वैज्ञानिक दृष्टिकोण ध्यान देने के योग्य है:-

"कालो न याताः वयमेव याताः"

(वैराग्यशतक)

अर्थात् काल स्वतः एक स्थिर केन्द्रित बिन्दु है, और इसी काल-शक्ति के चारों ओर यह समस्त कास्मिक-ब्रह्माण्ड और "भूः, भुवः, स्वः महः, जनः, तपः, सत्यं सातो ही सभी विश्व अनवरत परिक्रमा लगाते ही रहते हैं। ईसा-पूर्व दूसरी-शती की शाक्त-रचना, जिस रचना को कश्मीर के किसी शाक्त-साधक ने

संस्कृत भाषा में कश्मीर के 'चक्रेश्वरी' प्रद्युम्न-पीठ के शारिका-प्राङ्गण में लिखा है। इस रचना का नाम 'पञ्चस्तवी' है, इस रचना में भी कालशक्ति अथवा समय-शक्ति का साभिप्राय संकेत बार-बार आया है:-

(क) 'समयमनुभूतिम्'

(पंचस्तवी, सकलजननीस्तवः - 17)

अर्थात् समय या काल एक ऐसी संकल्पना है, एक ऐसी अवधारणा है, जिसका विमर्श भाव-तत्त्व में समेटना दुष्कर है।

(ख) 'विविध समये'

समय या काल की विविधता में अपार अन्तर बना रहता है। सुखद समय के बीतने में तीव्र गति बनी रहती है, कब आया और कब खिसक कर चला गया, कुछ भी आभास लगाना कठिन होता हे जब कि दुःखद काल को काटना और बिताना अंसभव सा बनता है। पल दिन बनते जा रहे है और दिनों का काटना और बिताना साल भर का सा हुआ करता है। इस कारण समय सापेक्ष हुआ करता है।

(ग) 'त्वं असि समया त्वं समयिनी'

तुम तो, हे माता शक्ति! स्वयं संस्थापक काल-तत्त्व हो और काल-तत्व की नियामक भी हो अर्थात् समय स्वयं में एक

कार्य-कलाप है और समय एक शक्ति-तत्त्व भी है एक में क्रिया-तत्त्व है और दूसरे में शक्ति-तत्त्व है। एक में करने का आदेश है और दूसरे में करने की क्षमता है।

(घ) 'शिवादिक्षित्यन्तं त्रिवलयतनोः सर्वमुदरे'

हे शिव की अभिन्न शक्ति! तुम स्वतः अपनी इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति से शिव-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक छत्तीस तत्त्वों का सृजन करके इस समस्त काल-चक्र को भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल में विभाजित करके पुनः इस अनन्त एवं व्यापक कालचक्र को अपने कालातीत स्वरूप में ग्रास करती हो।

"द्वादश"

"भारतीय चिन्तन में द्वादश अर्थात् बारह संख्या की बौद्धिक एवं सांस्कृतिक व्याख्याः"

बारह दिनों की संख्या का एक विशेष महत्त्व है और इसकी संलग्न-चिरंतनता-भारतीय संस्कृति के धार्मिक-समाजशास्त्र के साथ, विशेषकर जन्म के अनुष्ठानों और मरण के अनुष्ठानों (Birth Rituals and Death Rituals) के साथ, गहराई के साथ संलग्न हैं। नवजात बच्चे के जन्म होने के उपरान्त दसवें दिन पर शौच समाप्त होता है और ग्यारहवें दिन नहा-धोकर नवजातक का जातकरण संस्कार होता है और बारहवें दिन पर नामकरण का संस्कार आयोजित होता है। इस प्रकार से जन्म के अनुष्ठान के अवसर पर भी बारह की संख्या का एक अनिवार्य महत्त्व समाजशास्त्र के साथ आबद्ध हैं। मरण के दसवें दिन नदी के घाट पर कर्मकाण्ड के अनुरूप क्रियाकर्म आयोजित होता ही है, परं विशेष उल्लेखनीय तो घट या कुम्भ का अनुष्ठान महत्वपूर्ण होता है। कुम्भ एक धार्मिक प्रतीक (Religious Symbol) के रूप में पूजा जाता है, जो मृतक के पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय का एक प्रतीक हुआ करता हैं । इस घट को कन्धे पर रखकर प्रवाहित पानी में विसर्जित यह कहकर किया जाता है कि पानी के प्रवाह के अनुकूल ही तुम्हारे आवागमन का चक्र भी बना हुआ है। अत: इसी कारण मात्र दसवाँ ही दिन नदी के घाट पर आयोजित होता है। वस्तुत: इसके साथ पानी के आने-जाने के अनुकूल ही

साईकल अथवा आवागमन का चक्र इससे जुडा हुआ है।

मृतक के ग्यारहवें दिन पिण्डदान के समेत इस अनुष्ठान के अवसर पर मन और बुद्धि के तत्त्व का पाप-विमोचन कराके उसकी वासना को शान्त किया जाता है। इसके उपरान्त यहाँ भी बारहवाँ दिन आता है, बारहवें दिन मृतक की सपिण्डी होने पर उसके इस जन्म के अहंकार का अस्तित्त्व पूर्वजों के साथ विलय किया जाता है। इस प्रकार से मृतक के बारहवें दिन सब कुछ समाप्त होता है। मृतक-संस्कार से कश्मीर का एक और अनुष्ठान भी विशेष उल्लेखनीय है। पितृ-पूजा के इस अनुष्ठान को "द्वाद्वशी" का "पितृ-अनुष्ठान" कहते हैं। यह अनुष्ठान पूरे बारह दिनों का होता है। इस कर्मकाण्डीय अनुष्ठान को नारायणबलि भी कहते हैं। इस कर्मकाण्डीय अनुष्ठान में पूरे वंश के पितरों के तीन पीढी तक ले सकते हैं। द्वादशी का कर्मकाण्डीय अनुष्ठान मार्तण्ड-तीर्थ (कश्मीर-अनन्तनाग) या किसी तीर्थ या अपने ही घर आयोजित होता है। इस अनुष्ठान में दशमी, एकादशी, प्रायश्चित, नदी घाट पर पिण्डदान विष्णुश्राद्ध, ग्याहवाँ और अन्त में बारहवाँ दिन आयोजित होता हैं इस कर्मकाण्डीय अनुष्ठान में पूरे बारह दिनों का सिलसिला चलता है। इस अनुष्ठान में कुल के गोत्र के साथ "विष्णु" "उपपद" के रूप में आता है और मार्तण्ड के सूर्यक्षेत्र पर कुल के गोत्र के साथ "भर्ग" उपपद संलग्न होकर रहता है। मार्तण्ड के कमल-विमल जल कुन्ड के उपर पहाड़ी पर भगवती भर्गशिखा का एक चिर प्राचीन मन्दिर है और 'द्वाद्वश काली' स्तोत्र में 'भर्गशिखा' का पावन-स्थान नवाँ है।

कश्मीर के आंचलिक उत्सवों और समाजशास्त्रीय (Sociological) तीज-त्यौहारों में हेरत या हररत्रि का उत्सव एक विशेष सामाजिक महत्व रखता है। हेरत (हररात्रि) का यह उत्सव भी कश्मीर के जन्म अनुष्ठानों (Birth Ritual) और मृत्यु-अनुष्ठानों (Birth Ritual)के अनुरूप ही पूरे बारह दिनों का एक असाधारण उत्सव है। कश्मीर के चिर प्राचीन लोक गीतों में हेरत का उत्सव शाक्त-संप्रदाय (Mother Goddess Cult) का एक पूरे पखवाडे का उत्सव है। इस उत्सव का आयोजन फाल्गुण कृष्ण-पक्ष द्वादशी या त्रयोदशी की आधी रात के समय इस पूजा का संयोजन होता है। इस शाक्त-शैव पूजा में तीन प्रकार के मांस अर्थात् खेचर, जलचर और भूचर अर्थात् पक्षिन्, मछली और भेड का मांस होना अनिवार्य है और मिट्टी के कोरे घड़े, डोल, सकोरे, परवे और शिव-पुतली, जिसको कश्मीरी भाषा में ''सनि-पोतुल'' कहते हैं, यह कश्मीरी शब्द-युगल वास्तव में वैदिक शब्द 'स्थानु-पुत्रिका' का अपभ्रंश रूप है अर्थात् शिव की पुतली। इसका स्वरूप-आकार कोणिक शिवलिङ्ग का सा होता है पर आन्तरिकता में खोखला होता है। माटी के कोरे घड़े, डोल और छोटे मोटे बरतनों में महिलाएँ सजधज्ज कर नदी घाट पर जाकर पानी भर लाते हैं फिर सूखी शाली के घास के गोलाकार आरमण (आसन) (कश्मीरी ऑर) पर बिठाया जाता है। इस के उपरान्त इन माटी के बरतनों में अखरोट डाले जाते हैं। कश्मीरी भाषा में अखरोट को 'डून' कहते है जो वैदिक 'द्विगुण' का अपभ्रंश रूप है। यह शिव-पार्वती का प्रतीक माना जाता है अर्थात् वैयक्तिक

विभिन्नता के उपरान्त भी अभेदता, और शिव-शक्ति की समरसता। ''हेरत'' या हर-रात्रि की यह पूजा पूरे बारह दिनों का अनुष्ठान है। पहले पाँच दिनों, पाँच कर्मेन्द्रियों का शोधन एवं नियमन होता है, दूसरे पाँच दिनों में पाँच ज्ञानेन्द्रियों का शोधन, नियमन और अन्त:बोध का क्रम बना रहता है। इस प्रकार दशमी के बीतने पर अन्त:बोध की प्रगाढ-एकादशी आती है। इस दिन 'एकादश रूद्र' की प्रगाढ-रूप से तपस्या, अर्चना, आराधना और पूजा होगी भाषा-अपभ्रंश के कारण अब 'गाड-काह' रूप में विकास हुआ है। वास्तव में हेरत-पूजा की पद्धति के आधार पर इस तपापूत वेला पर संकल्प और विकल्प को नियमन का समावेश करके द्वादशी की अर्धरात्रि की पूजा की बेला पर साधक बुद्धि और अहंकार को समावेश की भूमिका के चरमबिन्दु पर लाकर केवल शिवाभास की अनुभूति का मनन करता है। इस पूजा की व्यवस्था में भी 'द्वादश' का एक असाधारण महत्व है।

कश्मीर में जन्म-अनुष्ठान, मृत्यु-अनुष्ठानों (Birth Ritual and Death Ritual) के अतिरिक्त उत्सव-परक अनुष्ठानों (Living Rituals) में भी 'द्वादश' या बारह की संख्या का एक अनुस्यूत क्रम संलग्न है। कश्मीर की योग साधना में द्वादशान्त अर्थात् बारह के सीमान्त होने के उपरान्त शैवी-योग का आरम्भ होता है। 'स्पन्दकारिका' में आचार्य भट्ट कल्लट स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:-

''यत: करणवर्गोऽ यं विमूढो''

(स्पन्द-6)

जब तक साधक पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार के करण-वर्ग अर्थात इन्द्रिय-वर्ग में भटकता रहेगा, तब तक यह असावधानी की ही भटकन है। विज्ञानभैरव का कहना है:-

''क्रमद्वादशकं सम्यक् द्वादशाक्षरभेदितम्''

(वि.भै. 30)

अर्थात् क्रमपूर्वक बारह स्थानों अर्थात्:- जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृत, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति और व्यापिनी। इन बारह स्थनों पर क्रमश: ''अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अ:'' को ध्यानस्थ और समाधिस्थ करना चाहिए। आगे चलकर विज्ञान भैरव का उद्घोष है:-

''यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत''

(वि.भै. 51)

अर्थात् जैसे भी संभव हो, जिस प्रकार की संभव हो, मन को द्वादशान्त (ब्रह्मरन्ध्र) पर बिठाना चाहिए। द्वादशान्त का शब्द-अर्थ है:- बारह अगुंल ऊपर की ओर इसको ऊर्ध्व-द्वादशान्त, इसी को ब्रह्मरन्ध्र भी कहते है।

गहन-तपस्या में लीन योगी अन्त: समाधि में द्वादश स्थानों से अग्रसर होकर आत्मबोध के समावेश की स्थिति में प्रवेश करता है। इन बारह स्थानों का नामकरण इस प्रकार है:- जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृत, कण्ठ, तालु भूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति और व्यापिनी।

तंत्र-वाङ्मय ने इसके आरोह-क्रम के द्वादश-आङ्गिक (बारह अंगों या अवयवों) का हवाला प्रस्तुत किया है:-

1. नाभौ - अकार
2. हृदि - उकार
3. आनने - मकार
4. भ्रूमध्ये - बिन्दु
5. ललाटे - अर्धचन्द्र
6. ललाटोर्ध्वे - अर्धचन्द्र
7. शिरसि - नाद
8. ब्रह्मरन्ध्रे - नादान्त
9. शक्ति - त्वक्स्थां
10. व्यापिनी - शिखामूल
11. शिखायां - सुमना
12. शिखान्त स्थान् - उन्मना

कश्मीर के उत्तर-मध्यकाल के इतिहास में सन्ता ललेश्वरी, कश्मीरी उच्चारण, "सन्ता ललद्येद" की एक उत्कर्ष पूर्ण अध्यात्मिकता रही है। अपने प्रखर-ज्ञान के फलस्वरूप ही सन्ता ललद्येद ने सन्त नुन्द ऋषि (अलमदारि-कश्मीर) को कश्मीर की ऋषि परंपरा में स्वत: दीक्षित किया। सन्ता ललद्येद ने भी द्वादशान्त-मण्डल पर विशेष ध्यान देने का आदेश दिया है:-

"द्वादशान्त - मण्डल यस् देवस् थज्य"

"अर्थात जिसने भी द्वादशान्त या ऊपर का बारहवाँ स्थान पाया वह मानव से महामानव बना।"

सन्त नुन्द ऋषि (अलमदारि-कश्मीर) ने भी अपने एक श्रूँख (श्लोक) में द्वादशान्त की प्रशान्त-स्थिति का बोध प्रस्तुत किया है:-

"बाह चटिथ भास्योम बुॅ क्या छुस"

(कुल्ययात)

अर्थात्, बारह को काट कर, अर्थात् द्वादशान्त की स्थिति पर पहुँचकर ही मुझे अपने आध्यात्मिक ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा (Recogintion) उपलब्ध हुई कि वास्तव में, "मैं क्या हूँ।"

श्वास-वायु का अन्तः बाह्य प्रसार भी बारह अँगुल की मात्रा का स्वीकारा जाता है। व्रत एवं उपवास के अनुष्ठान के आयोजन में भी दशमी, एकादशी और द्वादशी का पारायण किया जाता है। मानवीय मनोविज्ञान के विशेषज्ञों की मान्यता है कि बालक-बालिका का बारहवाँ वर्ष बीत जाने के उपरान्त समलैङ्गिक का सहचर्य (Homosex - Association) में एक परिवर्तन आता है और बालक-बालिका प्रायः इतरयौन या लैङ्गिक-सहचर्य (Hetrosex Association) की टोली में रहना अधिक श्रेय समझते हैं। आश्चर्य का विषय यह है दोनों के शरीर, अवयव और अगों में एक बदलाव के आने के अतिरिक्त उनके गले के स्वर में और आपस में देखने - पहचानने में भी एक आमूल-परिवर्तन आता है।

कश्मीर के जन्म-मरण अनुष्टानों (Birth and Death Ritual) और धार्मिक-अनुष्ठानों (Religious Rituals) आध्यत्मिक-कृत्यों (Spiritual Achievement) में द्वाद्वश (बारह) का एक असाधारण महत्त्व है। 'द्वादशकाली' में इन्हीं बारह-आयामों की विश्वचेतना (Universal Consciousness) का विवरण आया है।

'तत्रांलोक' में आचार्य अभिनवगुप्त जी ने इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है:

"इत्थं द्वादशधा संवित्तिष्टन्ती विश्वमातृषु"

(तत्रांलोक आह्निक - 179)

अर्थात् इस प्रकार से संवित् भगवती बारह-स्वरुपों की व्यवस्था से प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय में अनुस्यूत होकर निवास करती है। इस व्यवस्था का वर्गीकरण इस प्रकार से हैं:-

(क) (1) प्रमा - प्रमाता,
(2) प्रमा - प्रमाण
(3) प्रमा - प्रमेय

(ख) (1) प्रमाता - प्रमाता,
(2) प्रमाता - प्रमाण
(3) प्रमाता - प्रमेय:

(ग) (1) प्रमाण - प्रमाण
(2) प्रमाण - प्रमेय
(3) प्रमाण - प्रमाता

(घ) (1) प्रमेय - प्रमेय
(2) प्रमेय - प्रमाता
(3) प्रमेय - प्रमाण

आचार्य अभिनवगुप्त जी के व्याख्याकार श्री जयरथ इस आशय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :-

''इति प्रमाणादेरपि आक्षेपात् प्रमातृप्रमाणणादि विषयत्तया द्वादशधात्वेन अवभासमानापि अद्वितीयेत्यर्थः''

(तंत्रालोक श्लोक 180, चतुर्थह्निक)

अर्थात् प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय आदि वर्गीकरण के आधार पर इसका विभाजन बारह में हुआ है।

आगे चलकर आचार्य अभिनवगुप्त जी अपने तर्क को साक्ष्य में कहते है:-

द्वादशैव स्वराः प्रोक्तानपुसंकविवर्जिताः,
आदित्या द्वादश प्रोक्ता द्वाद्वशाख्यवस्थिताः,
मासाः द्वादश इत्युक्ताः कला द्वादश संज्ञिताः॥

(तंत्रालोक श्लोक 146, आह्निक - 4)

अर्थात् नपुंसक स्वरों को छोड़कर कुल स्वरों की संख्या भी बारह ही आती है अर्थात्:- अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः सूर्य भी संख्या में बारह हैं और सूर्यदेव स्वयं मेष, वृष, मिथुन, कर्कट, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, तथा मीन राशियों का पूरे बारह महीनों के भीतर भोग करता है। चैत्र आदि महीने और कलाओं की संख्या भी बारह ही स्वीकार की गई है। इसी व्यवस्था के अनुरूप द्वादश-कालियों का भी विकास हुआ है। सृजन, संरक्षण, संहरण और इस से भी उल्लिघिंत तुर्यावस्था के वास्तविक अस्तित्व के फलस्वरूप इनका वर्गीकरण भी बारह की संख्या में स्पष्ट होता है। इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख करते हुए स्वनामधन्य आचार्य अभिनवगुप्त जी कहते हैं :-

तस्य शक्तय एताश्च तिस्त्रो भान्ति परादिकाः।
सृष्टौ स्थितौ लये तुर्ये तेनैता द्वादशोदिताः॥

(तंत्रालोक श्लोक 126, आह्निक - 4)

अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार की व्यवस्था से सूक्ष्म विवेचना के फलस्वरूप इन शक्तियों के अस्तित्व में तीन-तीन का विभाजन होता है और इसके उपरान्त पराशक्ति तुर्या का स्थान आता है।

तुर्या अवस्था में भी अलौकिक सृष्टि, स्थिति और संहार का निर्माण निरन्तर बना ही रहता है। इस दृष्टिकोण से इसका वर्गीकरण इस प्रकार से संभव बन पाता है:-

1. तुर्या - सृष्टि काली
   तुर्या - स्थिति काली
   तुर्या - संहार काली

2. सृष्टि - सृष्टि काली
   सृष्टि - स्थिति काली
   सृष्टि - संहार काली

3. स्थिति - सृष्टि काली
   स्थिति - स्थिति काली
   स्थिति - संहार काली

4. संहार - सृष्टि काली
   संहार - स्थिति काली
   संहार - संहार काली

आचार्य अभिनवगुप्त जी इस तथ्य से सचेत हैं कि इस व्यापक और विराट कालचक्र में जो अनुत्तर कालशक्ति-विविधरूपों में उन्मेष और निमेष की लीला अनादि काल से लेकर करती आई

है और करेगी, कहीं इसका विकास क्रम में, कहीं अक्रम में और कहीं क्रमाक्रम में सतत होकर ही चलता है:-

एकैवेति न कोऽप्यस्याः
क्रमस्य नियमः कचित्।
क्रमाभावान्न युगपत्
तदभावात्क्रमोऽपि न॥

(तंत्रालोक श्लोक 179, आह्निक)

परासंवत् स्वयं ही अपार और असीम काल-शक्ति स्वरूप में, किसी के सहाय्य को लिए बिना, कहीं क्रम और अक्रम दोनो ही व्यवस्था को अपना कर, सृजन (Creation) और विर्सजन (withdrawal) करती ही रहती है।

श्रीक्रमस्तोत्र से उद्धृतः-

"द्वादश कालीस्तोत्र"

"सृष्टिकाली"

कौलार्णवानन्द घनोर्मिरूपा,
मुन्मेषमेषोभयभाजमन्तः।
निलीयते नील कुलालये या,
तां सृष्टिकालीं सततं नमामि॥१॥

मैं अपने से अभिन्न अनिर्वचनीय संवित् भगवती सृष्टिकाली का प्रणमन करता हूँ। जो सृष्टिकाली शाक्त-सागर (Ocean of Energy) की अद्भुत एवं अलौकिक उल्लासमय पहली तरंग के रूप में स्पन्दायमान होकर अपने ही स्वरुप में उन्मेष और निमेष (सृजन-संहार) दोनों ही विकास-विनाश शक्तियों को ग्रहण किए हुए है, और जो अपनी अभिन्न स्वातंत्र्य इच्छा से अनन्त एवं अपार पदार्थ राशि (Infinitive Objective Universe) अर्थात् नील पीत प्रमेयवर्ग में सृष्ट्रा बनकर सृजन करती है।

विशेष स्पष्टीकरणः-

"कौल" शब्द का मूलरूप 'कुल' से बना हुआ है। 'कुल' का सामान्य अर्थ है "कुण्डलिनी-शक्ति" अर्थात्। पराभट्टारिका महामाया भगवती और 'अकुल' महादेव 'शिव' का एक तांत्रिक या आगम-परक पर्याय है :-

"कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते"

"स्वच्छन्द - तंत्र

अर्थात् 'कुल' शक्ति का पर्याय है और अकुल का नाम-वाचक शिव का पर्याय है। अतः- "कुलेऽकुलस्य संबन्धः कौलमित्यभिधीयते अर्थात् 'कुल' ओर 'अकुल' का संबन्ध "कौल" कहलाता है।

'तंत्रालोक' महार्ध-ग्रन्थ के व्याख्याकार 'क्रमस्तोत्र' में वर्णित 'सृष्टि-काली' के बिम्ब को अधिक स्पष्ट करने के लिए अपने पूर्ववर्ती श्रीपञ्चाशतिका शैवग्रन्थ का साक्ष्य प्रस्तुत करके इसका समाधान ढूढंना चाहा है:-

या कला विश्वविभवा सृष्ट्यर्थकरणक्षमा ।
यदन्तः शान्तिमायाति सृष्टिकालीति स्मृता ॥

(तंत्रालोक श्लोक 149, आह्निक-4)

वह अपने से अभिन्न और अछिन्न कला, जो विश्व के लिए प्रयत्नशील होकर विश्व की विविध पदार्थ-राशि निर्माण करने में सक्षम है और इस सृजन से परासंवित् भट्टारिका को अपार शान्ति आती है अथवा जिस सृजन के फलस्वरूप सृष्टिकाली परम आनन्द अनुभव करती है।

'रक्त काली'

महाविनोदार्पितमातृचक्र,
वीरेद्रकासृग्रसपान सक्ताम्।
रक्तीकृतां च प्रलयात्ययेताम्,
नमामि विश्वाकृतिरक्त कालीम् ॥२॥

जिस असाधारण शुद्धविद्या के अपार आनन्द के उल्लास में प्रज्ञासंपन्न साधक अपनी कर्णेश्वरी रूपी योगिनियों के संपर्क के चमत्कार में मग्न अवस्था को अनुभव करता है, अर्थात् जब मुमुक्षु-साधक को मातृचक्र शक्तियों का वास्तविक समावेश होता है, इस अनुत्तर अवस्था में स्वतः संवित् भगवती ही एकरस होकर, अपने से अभिन्न शाक्तरस के अलौकिक पान करने में संलग्न होकर रहती है, तथा जो अपने से अभिन्न प्रलय के अवसान पर विश्व-सृजन के उन्मेष दशा में स्वतः विश्व ही अपार स्वरूप बनकर, अर्थात् स्थिति स्वरूप अवस्था में भोक्तापद पर निर्विकल्पभाव से अनुरक्त होकर रहती है, अर्थात् निरन्तर पोषण करती ही रहती है, मैं उसी अपने से अभिन्न आभा एवं प्रभापूर्ण रक्तकाली, अर्थात् विश्वसृजन के उन्मेष के प्रति क्रीडाशील अथवा प्रमेय-पर्यन्त स्थिति की आश्रयशील, अर्थात् जो प्रमेय-विश्व (objective universe) की स्वतः स्रोत है। इस प्रकार अभिन्न आश्रयशील रक्तकाली का प्रणमन करता हूँ।

विशेष स्पष्टीकरण

'पञ्चशतिका' शैवग्रन्थ में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से प्रस्तुत हुआ है:-

न चैषा चक्षुषा ग्राह्या न च सर्वेन्द्रियस्थिता।
निर्गुणा निरहङ्करा रंजयेद्विश्वमण्डलम्॥
सा कला तु यदुत्पन्ना सा ज्ञेया रक्तकालिका।

(तंत्रालोक श्लोक 149, आह्निक-4)

अर्थात् रक्तकाली के वास्तविक स्वरूप का साक्षत्कार आँखों से होना अवश्य दुष्कर है, न तो शेष इन्द्रियों से इस प्रकार का समावेश संभव है। वास्तव में रक्तकाली गुणातीत और अन्त:करणों से भी अग्राह्य है, परं फिर भी यह विश्वमण्डल को सुशोभित करती है। इस प्रकार की उत्पन्न-कला को 'रक्तकाली' के नाम से जाना जाता है।

टिप्पणी:

मातृकाचक्र का सामान्य अर्थ है मातृगण, इसके अर्थ का स्पष्टीकरण इस प्रकार है:- "इन्द्रिय और करण आपस में पर्याय (Synonymous) है। जब भी इन्द्रिय बाह्य-जगत या प्रमेय-जगत (Objective Universe) की ओर संलग्न होकर रहते है तो वे इन्द्रिय कहलाते हैं पर जब यही इन्द्रिय अन्तर्मुखी (Introvert) होकर या स्वात्म-चिन्तन (Subjective Thinking) में संलग्न होकर होते हैं तो करणेश्वरी कहलाते है अथवा करणवर्ग।

'स्थितिनाश काली'

वाजिद्वयस्वीकृत वातचक्र-
प्रक्रान्त संघट्ट गमागमस्थाम्।
शुचिर्ययास्तं गमितोऽर्चिषा तां -
शान्तां नमामि स्थितिनाश कालीम्॥३॥

मैं प्राण और अपान के किसी भी क्षोभ के रहित एवं शान्त और निर्विकल्परूप से स्थितिनाशकाली भगवती को प्रणमन करता हूँ, अर्थात् अलौकिक समावेश मुद्रा में प्रवेश करता हूँ, जिस (अपने से अभिन्न) संवित् भगवती ने अपनी स्वतंत्र इच्छा अथवा अपनी ही दीप्ति (अर्चि) से मित-प्रमाता अथवा संकोचित स्वरुप को अपने में ही अस्त किया है और जिस ने प्राण और अपान रूपी (श्वास-उश्वास के) दो घोड़ों को अथवा प्राण-अपान रूपी युगल (जोड़ी) को, गतिशील बनाया है तथा समस्त वातचक्र को अर्थात् बहत्तर-हजार नाडी-चक्र (Nervous System) को अपने अधीन किया है और प्राण के अन्तः- आरोहन अर्थात् श्वास लेते समय जो संवित भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति और व्यापिनी से होकर द्वादशान्त पर स्वयं आरूढ होती है और अपान अर्थात् उश्वास की स्थिति पर पूरे बारह अंगुल की दूरी से सांस की छूटन होती है, इस प्रकार, जो प्राण-अपान को सन्धि, संघट्ठ या प्राण-अपान का आरोहण एवं अवरोहण है, वही वास्तव में 'स्थितिनाशकाली' का स्वरूप है।

विशेष स्पष्टीकरण

श्री पञ्चशतक-ग्रन्थ में स्थितिनाशकाली का निरूपण इस प्रकार से स्पष्ट हुआ है:-

हासिनी पौद्र लीयेयं वालाग्रशत कल्पना,
कल्पते सर्व देहस्था स्थितिः सर्गस्यकारिणी!
यदुत्पन्ना तु सा देवी पुनस्तत्रैवलीयते।
तां विद्धि देवदेवेश! स्थितिकाली महेश्वर॥

अर्थात् बाल के सौवें हिस्से से भी सूक्ष्म परमशिव की यह उल्लासमय अभिन्न शक्ति ही स्वयं अनन्त रूपों में अवस्थित होकर इस सृजन को संरक्षण प्रदान करती है। यह अलौकिक शक्ति जिस स्वरुप से अर्थात् जिस पराशक्ति से उत्पन्न होकर पुनः अपने ही स्पन्दायमान स्वातंत्र्य में विलय होती है। हे महेश्वर! यही स्थिति काली का स्वरुप है।

इस श्लोक के उन्मेष में स्थिति नाशकाली भगवती के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार मिलता हैं। स्थिति का सामान्य अर्थ है: बाह्य-जगत (Objective - Universe) का अस्तित्व। इस स्थिति में स्वयं संवत्-भगवती प्रमाण-साक्ष्य के रूप से प्रमाता-स्वरूप (Subjective - Self) का साक्षात्कार करती है, अर्थात् ''ज्ञातो-मयार्थः'' अर्थात् इस प्रमाण के द्वारा मैंने यह जान लिया है। कथन का अभिप्राय यह है कि बाह्य विकसित विश्व को पुनः अपने ही पद में गर्भित करती है। नाश शब्द की अर्थध्वनि

का संकेत यहां पर स्पष्ट है अर्थात् पुनः अपने में गर्भित करने की एक स्वाभाविक एवं नैसर्गिक प्रक्रिया ।

टिप्पणी:

''वाजिद्वय'' एक सुन्दर शब्द बिम्ब है अर्थात्
सशक्त आरोहण एवं अवरोहण,
'अश्व' शक्ति से शक्ति का मापना विशुद्ध
वैज्ञानिक है अर्थात् (Horse - Power)।

'यम काली'

सर्वार्थ संकर्षण संयमस्य
यमस्य यन्तुर्जगतो यमाय!
वपुर्महाग्रास विलासरागात्
संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम्।।४।।

जो यमकाली समस्त पदार्थ राशि के नियत-रूप देने वाले यमरूपी विकल्प को तथा इस यम स्वरूप से नियमन करने वाले नियन्ता को, अर्थात् यम-रूपी विकल्प और इसके संकोचित स्वरूप के नियन्ता करने वाले मित-प्रमाता (Limited Subject) को संवित-शक्ति स्वयं, अपने उत्कृष्ट स्वरूप से इस जगत का नियमन करने के लिए अपने स्वातंत्र्य स्वरूप से महाग्रास और महाविलास-रूपी अपने आनन्द की रसात्मक लीला से संकर्षण (Total Absorbation) विशेष क्रम से अपने में लीन करती है।

उसी अपने से अभिन्न अर्थात् अलौकिक ग्रास और अद्भुत विलास करने वाली 'यमकाली' को, मैं नमस्कार करता हूँ अर्थात् उसी अद्वितीय स्वरूप में प्रवेश करता हूँ।

विशेष स्पष्टीकरणः-

श्री पञ्चशतिका शैवग्रन्थ में 'यमकाली' के स्वरूप का उल्लेख इस प्रकार से हुआ हैः-

यमरूप स्वरूपस्था रुपातीत स्वरूपगा ।
सा कला लीयते यस्यां यमकाली तु सा स्मृता॥

(तंत्रालोक 181, अह्निक - 4)

द्वादशकाली के इस चौथे श्लोक के उन्मेष में 'यमकाली' के स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत हुआ है। यम का साधारण अर्थ विकल्प, अर्थात् "यह करना है और यह नहीं करना है"। इस व्यवस्थित तथा नियमित स्वरूप को जो रूपातीत-स्वरूप में लीन करती है अर्थात् विकल्प की कला जिस शक्ति-तत्त्व में लीन होती है वही यमकाली कहलाती है।

टिप्पणीः

यम का साधारण अर्थ है : "यमं कलयन्ती, यमकाली यमयतिः इदं कार्यमिदं न" जो विकल्प का नियमन करता है अर्थात् यह काम करना है और यह नहीं करना हैं।

'संहार काली'

उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा
या भावसंहार निमेषमेति।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां
संहारकलीं मुदितां नमामि ॥

जो अपने से अभिन्न, परासंवित् भगवती समस्त शंकारूपी विकल्पों को संहार करने के फलस्वरूप "उन्मना" कहलाती है तथा जो समस्त पदार्थ-राशि (Entire Objective Prosperity) को अपने स्वरूप में समाने के कारण स्वयं अबाध और अप्रतिहत है तथा जो संवत् भगवती अनन्त प्रमेय-राशि या भावमण्डल (Objective Universe) को संहार करने के लिए निमेष (संहार) अवस्था को ग्रहण करती है और जो प्रत्येक क्षण प्रयत्नरत होकर भी बाह्य-विकास के उदय से नितान्त शून्य है। इस प्रकार आनन्द स्वरूपा संहार काली को नमस्कार करता हूँ।

विशेष स्पष्टकरण:

श्री पञ्चशतिका शैवग्रन्थ में "संहारकाली" के प्रभापूर्ण स्वरूप का उल्लेख इस प्रकार से प्रस्तुत हुआ है:-

चण्डकाली शुद्धवर्णा यामृतग्रसनोद्यता ।
भावाभाव विनिर्मुक्ता विश्वसंहार रूपिनी॥
यत्र सा याति विलयं सा च संहारकालिका।

(तंत्रालोक श्लोक 182, अह्निक - 4)

जिस चण्डकाली का स्वरुप शंकाशून्य होने के कारण स्वतः शुद्धवर्ण है, जो अमृत को ग्रास करने के लिए सतत् जागरूक है, जो भाव और अभाव दोनों ही स्थितियों से मुक्त हैं और विश्व को संहार, अर्थात् स्वतः बाह्य प्रदर्शित विश्व को स्वतः आयास किए बिना अपने में संपूर्ण को समेटलेने की क्षमता रखती है, या ऐसा करने में सक्षम है। निष्कर्षतः जिस कला में ये चण्डकाली विलय होती है वही स्वरूप संहारकाली का है।

टिप्पणीः-

पाँचवे श्लोक के उन्मेष कें संहार काली के स्वरूप का वर्णन हुआ हैं। संहार का सामान्य सांकेतित अर्थ है 'नाश', किन्तु शैव दर्शन में अस्तित्व का नाश संभव नहीं हैं इस कारण 'संहार' का सामान्य अर्थ शैवदर्शन में इस प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है। अर्थात् बाह्य-सृष्टि के अनन्त और अपार सृजन को और अंसख्य भाव-जगत को पुनः अपने में किसी आयास के बिना स्थापित करना, समेटना और पुनः अपने में किसी आयास के बिना बिठाना, समेटना और समाना ही संहार कहलाता है। अर्थात् जब

परा-संवित् स्वयं ही प्रकट किए हुए तथा कार्य-कारण (Course and effect) की कड़ी से सम्बन्धित, इस अपार पदार्थ राशि को पुनः अपने अलौकिक काल-शक्ति में अनायास रूप से गर्भित करती है, यही संहार-मुद्रा कहलाती है। साधक इस अवस्था में विकल्प के बिना ही "उन्मना" रूप से अपनी संवित् में भाव -संहार रूपी अवस्था को अनुभव करता हैं। उन्मना की अर्थ और भाव ध्वनि का संकेत वस्तुतः 'एकात्मक स्वरूप हर्षित-स्वरूप और 'संकल्प-विकल्प' के रहित मन की स्थिति का स्वरूप है।

मृत्यु काली

ममेत्यहंकार कला कलाप-
विस्फारहर्षोद्धृतनतगर्वमृत्युः ।
ग्रस्तो यया घस्मर संविदं तां
नमाम्यकालोचितमृत्यु कालीम्॥६॥

"मैंने ही स्वयं इस विस्तृत, अपार, अनन्त और अमित प्रमेयवर्ग (Objective Universe) को अपने स्वातंत्र्य-स्वरूप में लीन किया है।" इस प्रकार अहंकार की अनन्त कलाओं से युक्त और अपने आनन्दरूपी हर्षोल्लास से उत्कृष्ट तथा गर्वशील बनी हुई मृत्यु-स्वरूपिनी कालशक्ति को भी जिस परम भट्टारिका संवित भगवती ने संपूर्णरूप से ग्रास किया है, उसी अपने से अभिन्न तथा ग्रास करने की लीला में धुरीण एवं प्रवीण तथा काल की कलना से रहित मृत्युकाली-स्वरूप संवित् भगवती को नमस्कार करता हूँ।

विशेष स्पष्टीकरणः

श्री पञ्चशतिका शैवग्रन्थ में मृत्युकाली का संवित-हर्षोउल्लास इस शैली में अभिव्यक्त हुआ हैः-

ओमित्येषा कुलेशानी मृत्युकालान्तपातिनी।
मृत्यु कालकला यस्याः प्रविशोद्विग्रहं शिवं।।
तदा सा मृत्युकालीति ज्ञेयागिरिसुताधव ।

(तंत्रालोक श्ले0 148, आह्निक-4)

हे शक्ति के अभिन्न हृदय! मृत्यु को भी कालतीत कराके अर्थात् मृत्यु को भी निचोड़कर यह परमशिव की अभिन्न शक्ति स्वयं ही 'ओम्' अर्थात् ऐसा ही हो, यह स्वीकार करके अर्थात् जागरूक होकर, जिस में मृत्यु की काल-कलनारूपी कला को आबद्ध करके स्वतः प्रवेश करती है, इसी स्वरूप को मृत्युकाली कहते है।

विशेष स्पष्टीकरण :

'संहार-काली' के शक्ति-विस्फार या विस्तार में इदन्ता (विश्व, या Objective - Universe) के संस्कार का कुछ-कुछ अंश बना ही रहता है और इसी इदन्ता के शेष बचे हुए अंश को या जगत् (Objective - Universe) को, मृत्युकाली अपने शक्तिचक्र में पूरी तरह समाप्त करके मात्र पूर्ण-अहन्ता या वास्तविक अहं-स्वरूप (Stream of Consciousness) का ही चैतन्य-स्वरूप अन्ततः शेष रहता है। वस्तुस्थिति यह है कि रक्तकाली के स्वरुप में इदन्ता (विश्व) का मात्र विश्राम ही हुआ करता है। संहारकाली के स्वरूप में इदन्ता (विश्व, या Objective - Universe) के संहार होने के उपरान्त भी आंशिक संस्कार बना रहता है, किन्तु मृत्युकाली की स्थिति में प्रमाणस्वरूप सारे ही प्रमेय-वर्ग को अपने ही संवित् स्वरूप में अस्त होना पड़ता है।

भद्र काली

विश्वं महाकल्प विरामकल्प -
भावान्तभीम भ्रुकुटिं भ्रमन्त्या।
याश्नात्यनन्त प्रभवार्चिषा तां
नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम्॥७॥

जो अनन्त एवं अपार शक्तियों से युक्त होकर तथा महान सृष्टिकल्प के अवसान के समान अथवा विनाश के समान स्वरूप धारण करके, इस प्रमाण-प्रमेय स्वरूप विश्व को संहार अवस्था की भयंकर वेला में अपने भयभीत करने वाली भौहों को नचाती हुई, अर्थात् भौहों के भंयकर विनाशकारी संकेतों से संभाव्य संहार को दिखा रही है, और जो परा-संवित अपनी छूटती भयंकर कौधों और प्रज्वलित उल्काओं से इस प्रमेय-प्रमाण (Objective and Cognizant Universe) रूपी संस्कार के अवशेष को भी अपने स्वरूप से अर्थात् 'भ' के स्फार से भेदकर और 'द्र' के स्फार से पिघलाकर अर्थात शेष बचे हुए भेद को समाप्त कर, उसी अपने से अभिन्न कल्याण-स्वरूपा भगवती परासंवित् भद्रकाली को नमस्कार करता हूँ।

विशेष स्पष्टीकरण

"शैवदर्शन" के श्री क्रमसद्भाव भट्टारक ग्रन्थ मे "भद्रकाली" के इस सातवें उन्मेष का स्वरूप इस प्रकार से प्रस्तुत हुआ है:-

इदं सर्वमसर्वं यत्संहारान्तं तु नित्यशः।
कुटिलेक्षणरेखान्त ग्रस्तमस्तमितं च यत्॥
ततो बोधरसाविष्टा स्पन्दमाना निराकुला।
दीधित्तीनां सहस्त्रं यद्वमेच्च पिबते भृशम्॥
सा कला लीयते यस्यां रुद्रकालीतिसा स्मृता।

(तंत्रालोक श्लो. 149, अह्निक 149)

अर्थात् यही परासंवित भवगती स्वतः और सतत अनेक एवं एक जो भी संहार के अन्त तक विद्यमान होकर रहता है, उस सब को अपने कुटिल संकेतों की रेखाओं के द्वारा ग्रास करके अस्तप्राय करती है तथा उसके उपरान्त किसी भी अपेक्षा के रहित ही स्पन्दायमान चेतना के रस में आसक्त होती है और जो स्वयं अनन्त शक्ति-चक्रों से बाहय-विकास से उन्मेष (सृजन) करती है और बाह्य-जगत का पान करने से निमेष (संहार) करती है। इस प्रकार की कला, जिस में लीन होती है वह रूद्रकाली या भद्रकाली कहलाती है।

शैवग्रन्थ "श्री पञ्चंशतिका" में इसका नाम रुद्रकोली और भद्रकाली दोनों ही अंकित हुए है।

गमागम सुगम्यस्था महाबोधावलोकिनी।
मायामल विनिर्मुक्ता विज्ञानामृत नन्दिनी।।
सर्वलोकस्य कल्याणी रुद्रा रूद्रसुख प्रदा।
यत्रैव शाम्यति कला रुद्र कालीति स्मृता।।
भेदस्य द्रावणाद्भद्रसिद्धि करोतिया।

अर्थात् जो परासंवत अपने अनायास स्वातंत्र्य से उन्मेष (सृजन) और निमेष (विसर्जन) रूपी गम (संहार) और आगम (सृष्टि) को संपन्न करती है, तथा जो अपने से अभिन्न महान् ज्ञान-चेतना से स्वयं को अपलक देखती है, जो मायामल अर्थात् भेदपरक विभिन्नता से रहित है और जो अपार उल्लास से विज्ञान रूपी अमृत-कला का सतत वर्षण करती है और रोधन एवं द्रावण अर्थात संस्कार-रूप स्थिति से जो भी पदार्थ-राशि अन्तर में संगोपित है, उस अर्थ राशि का बाह्य-द्रावण अर्थात् इसप्रकार से रोधन और द्रावण की प्रक्रिया से रुद्र देव को सुख देकर सब का कल्याण करती है। जिस अलौकिक स्वरूप में यह उत्कृष्टकला में समावेश करती हैं, उसी को रुद्रकाली कहते है, और जो भेद को पिघलाकर समरसता की सृजना करती है।

टिप्पणी :-

भद्रकाली का सामान्य अर्थ है जो सबों का कल्याण करती है किन्तु शैवदर्शन में भद्रकाली का अर्थ-दर्शन इस प्रकार से मिलता है:-

''भेदस्य द्रावणात् भद्रा'' अर्थात् प्रमाण-प्रमेय भेद के पिघलने अथवा रिसने के उपरान्त जो यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत होता है उसे 'भद्र' कहते हैं और इस प्रकार की कालशक्ति को भद्रकाली कहते हैं।

मार्तण्ड काली

मार्तण्डमापीत पतङ्गचक्रं
पतङ्गवत्कालकलेन्धनाय।
करोति या विश्वरसान्तकां तां
मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि॥

जो संवित-शक्ति प्रमेय-परक (Objectivity) भोग्य पदार्थ राशि के विलीन होने के उपरान्त अहंकार ही अस्तित्व-स्वरूप प्रमाता के बारह सूर्य अथवा बारह इन्द्रिय-रूपी पतंगो (Moths) अर्थात् पाँच कर्मेन्द्रिय पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन और अहंकार "बुद्धि+अहंकार" इन्ही बारह इन्द्रियों को युगवत् और अभिन्न स्वरूप के काल-कलना के प्रचण्ड आग की जलती भट्टी में उसी प्रकार झुलसाकर भस्म कर डालती है, जिस प्रकार दीपक की प्रज्वलित लौ पर टूटकर अहंकार रूपी शलभ या पतंगे (परवाने) झुलस कर भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार यह परा-संवित समस्त विषयात्मक रसों को अपने स्वरूप में विलय कराती है उसी अपने से अभिन्न मार्तण्डकाली को प्रणाम करता हूँ।

विशेष स्पष्टीकरणः-

श्री पञ्चशतिका शैवग्रन्थ में मार्तण्डकाली का स्पष्टीकरण इस प्रकार से हुआ हैः-

शब्दब्रह्मपदातीता षट्त्रिंशान्तनवान्तगा।
ब्रह्माण्डखण्डादुत्तीर्णा मार्तण्डी मूर्त्याख्यया॥
सा कला लीयते यस्यां मार्तण्डी कालिकोच्यते।

(तंत्रालोक श्लोक 164, आह्निक 4)

जो मार्तण्डशाक्ति शब्दब्रह्म के पद से उल्लघिंत है, अर्थात् शब्दों के माध्यम से इस 'शक्ति-तत्त्व' (Element of energy) की व्याख्या का होना संभव नहीं है, क्योंकि शब्दों के बिम्बों से उसके आकार, स्वरूप और रेखाओं की व्याख्या का स्पष्टीकरण करना संभव बन पाता है शक्ति-तत्त्व की नहीं, इसी कारण रचनाकार ने "शब्दब्रह्मपदातीता" का प्रयोग किया है, यह शक्ति-स्त्रोत मार्तण्ड-काली स्वत: अपने अबाध स्वातंत्र्य के फलस्वरूप शिव-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व' के स्वरुप तक आरोहण करती है। इस प्रकार का यह आरोहण और अवरोहन निजी स्वातंत्र्य के फलस्वरूप निरन्तर बना ही रहता है। इसके अतिरिक्त यह शक्ति-स्फार नवदुर्गा के रूप में निरन्तर अवरोहण और आवरोहण की प्रक्रिया तो चलती ही रहती है अर्थात् कुमारिका, त्रिमूर्ति, कल्याणी, रोहिणी, काली, चण्डिका, शांभवी दुर्गा और भद्रा के नौ रूपों में इसका सतत विकास बना ही रहता है अथवा न्याय-दर्शन के अनुसार-पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, देह और मन के रूप में इस मार्तण्ड़-काली का विकास उत्तरोत्तर रूप में हुआ ही करता है। गणित के दर्शन के आधार पर इस "नव-अन्त-गा" का स्पष्टीकरण इस प्रकार से भी संभव हो सकता है। संख्या का वास्तविक विकास और

विशुद्ध स्फार एक से लेकर मात्र नौ तक ही है। नौ की संख्या के उपरान्त जो भी आगे की संख्या की व्यवस्था का तालमेल जोड़ा जाता है। वह एक अनुमान है, एक कल्पना है और, एक आरोप है। वास्तव में यह आरोप शून्य का है। यही कारण है कि भारतीय शाक्त-संस्कृति में नव-चण्डी की पूजा-पद्धति का शाक्त-स्फार नौ की संख्या-तक ही सीमित है। वस्तुतः नौ की संख्या गणित में सीमान्त हैं। यहां से हम मात्र, अर्थात् नौ की संख्या के आगे शून्य को धरोहर लेकर आगे की ओर संख्या जोडते है। जो एक उपकल्पना और एक व्यावहारिक आरोप के बिना कुछ भी नहीं है।

टिप्पणी

भद्रकाली के स्वरूप-उत्थान, अर्थात् द्वादशकाली के सातवें उन्मेष में यद्यपि प्रमेय-वर्ग पूरी तरह विलीन भी हुआ है किन्तु बारह इन्द्रियों का सूक्ष्म आश्रय अर्थात् अहंकार किसी न किसी रूप में बना ही रहता है यह अहंकार बारह इन्द्रियों में सूक्ष्मता से ओतप्रोत होकर बना ही रहता है। प्रश्न यह उपजता है कि इन्द्रियों की गिनती बारह न होकर तेरह की संख्या स्वीकारी गई है अर्थात् पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि और अहंकार। इस शंका का समाधान करते हुए आचार्यदेव अभिनवगुप्तजी की मान्यता यह है:-

"अहंकारे बुद्धिर्लीयते" अर्थात् अहंकार में बुद्धि समाकर रहती है। भाष्यकार जयरथ की भी इसी प्रकार की मान्यता है:-

''करणवर्गः तत्राहंकारे लीयते'' वास्तव में पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन एवं बुद्धि से सब ही अहंकार में अनुस्यूत होकर रहते हैं।

'मार्तण्डकाली'' आठवीं कालशक्ति है। इसका एक अनुष्ठान-परक पर्व कश्मीर के हिन्दु-समाज में आज भी सुरक्षित है और कालशक्ति का यह पर्व प्रत्येक शुक्ल-पक्ष अष्टमी को पड़ता है और इसका वार्षिक-पर्व जेष्ट-शुक्ल-पक्ष अष्टमी को आयोजित होता है। यह पर्व ज्येष्टा महाराज्ञी का है। यही एक ऐसा पर्व है जब कि कश्मीर के शाक्त-संप्रदाय के हिन्दू निरामिष भोजन करते हैं। इस दिन प्रायः कश्मीर की हिन्दू जनता तूलमूल (The root of Mulberry tree) गांवों, श्रीनगर के उत्तर-पश्चिम में अविस्थत, के शाक्त तीर्थस्थल पर जा कर वहाँ के जलकुण्ड की पूजा अर्चना करते हैं। महाराज्ञा-प्रादुर्भव महात्म्य के आधार पर रावण की लङ्का से मुक्त होकर महाराज्ञा के बारह स्थानों पर अपना व्यवस्थित आसन जमाया। ''देवीध्यानरत्नमाला'' शाक्त-ग्रन्थ में इसका साक्ष्य मिलता है:-

''या द्वादशार्क परिमण्डितमूर्तिरका
सिंहासनस्थितिमतीमुरगैर्वृता च।''

''अर्थात् जो काल-शक्ति महाराज्ञा भगवती स्वयं सिंहासन पर विराजमान होकर बैठी है और जिस के चारों ओर बारह सूर्यों की परिक्रमा निरन्तर बनी ही रहती है और जहाँ पर साँपों की (सरकते छः ऋतु और बारह मास) अनन्तता सरक रही है'' यहाँ

बारह सूर्यों की काल-शक्ति का यह साक्ष्य एक विशेष एवं ऐतिहासिक संकेत प्रस्तुत करता है। माना परंपरा लुप्त हो चुकी है पर साक्ष्य स्पष्ट हैं वास्तव में तुलमूल गांवों का विशेष महत्व रहा है। कल्हण की राजतरंगिणी के साक्ष्य के आधार पर तूलमुल के तीर्थ पर संपूर्ण कश्मीर के तीर्थ-परिषद् का मुख्य कार्यालय था और कश्मीर नरेश जयापीड को भी तूलमुल के शाक्त-ब्राह्मणों से पराजित होना पड़ा और यही उसके मृत्यु का कारण भी बना (राजतंरगिणी तरंग-4, श्लोक-638-657) इस बात का संकेत प्रस्तुत करना अधिक समीचीन लगता है कि द्वादशकाली की पृष्ठभूमि को समझने के लिए हमें चिरंतन कश्मीर के धर्मिक अनुष्ठानों के नृवैज्ञानिक (Anthropologial) और नृजातीय-तथ्यों (Ethrological - facts) पर गंभीर शोध (in depth Research) करने की आवश्यकता है। हम कश्मीरियों के जीवन में बारह की संख्या जन्म-अनुष्ठानों (Birth Ritual) मरण-अनुष्ठानों (Death Rituals) और वार्षिक (Annual Festivals) पर्वों में अनुस्यूत होकर अभी भी जीवित है, और दर्शन (Philosophy) में अर्थात् कश्मीर के शैवदर्शन में भी इसका व्यापक अस्तित्व है।

परमार्क काली

अस्तोदितद्वादशभानु भाजि
यस्यां गता भर्गशिखा शिखेव
प्रशान्तधाम्नि द्युतिनाशमेति
तां नौम्यनन्तां परमार्क कालीम्॥१॥

जो अपने से अभिन्न परमार्क काली अस्त और उदय होने वाले वर्षभर के बारह सूर्यों को अर्थात् धाता, मित्र, अर्यमा, रुद्र वरुण, सूर्य, भर्ग, विवस्वान, पूषा, सविता त्वष्टा और विष्णु और बारह इन्द्रियों अर्थात् पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन, बुद्धि+अहंकार को अथवा जो परमार्ककाली सौर-चक्र (Solar Cycle) के बारह महीनो, अर्थात् चैत्र, वैशाख, ज्येष्ट, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्वनि, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुण को अपने अभिन्न स्वरूप में विलय करके इसका आस्वादन करती है तथा जिस परमार्क काली के दिव्य एवं भव्य स्वरूप में भर्गशिखा रूपी अंहकार की तेरहवीं कला भी उसी परमार्क काली की अपार और अनन्त-दीप्ति स्वरूपता में अभेदता से विलय हो जाती है, उसी अलौकिक एवं अनिर्वचनीय परमार्क, अर्थात् बारह सूर्यों से भी उत्कृष्ट एवं अपरिमेय काली को नमस्कार करता हूँ।

विशेष स्पष्टीकरण:-

श्री पञ्चशतिका शैवग्रन्थ में परासंवित् परमार्ककाली के स्वरुप

की विवेचना इस प्रकार से वर्णित हुई है :-

एकाकिनी चैकवीरा सुसूक्ष्मा सूक्ष्म वर्जिता।
परमात्मपदावस्था परापरस्वरूपिणी॥
सा कला पररूपेण यत्र संलीयते शिव।
सा कला परमार्केति ज्ञेया भस्मांग भूषण॥

(तंत्रोक श्लो. 167 अह्निक-4)

अर्थात् जो परासंवित् अद्वितीय और अनुत्तर धैर्यशील होकर अत्यन्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, अथवा जिस स्थिति में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म की कल्पना का करना निष्फल सिद्ध होता है, इस प्रकार, जो संवित् सर्वश्रेष्ठ पद पर बैठी हुई अपने स्वातंत्र्य स्वरूप से परा, अपरा और परापरा अर्थात् क्रम, अक्रम तथा क्रमाक्रम स्वरूप को धारण करके सतत उन्मेष और निमेष करती ही रहती है। हे देवाधिदेव! इस प्रकार की यह कालशक्ति-कला जिस असाधारण रूप से अपने से उत्कृष्ट कला में विलय हो जाती है, हे भभूतधारी! अर्थात् उन्मेष-रूपी अपने ही शक्ति-संपन्न सृजन को, निमेष-रूपी काल-संहार की मुद्रा में भस्म करके उसी भस्म को अपने शरीर पर लेप चढा के हे शंकर! उसी अनिर्वचनीय परासंवित् भट्टारिका को परमार्क-काली जानना चाहिए।

टिप्पणी:-

इस ''परमार्क काली'' के श्लोक में ''भर्ग शिखा'' के शब्द द्वय का अस्तित्व शाक्त-दार्शिनिकता के अतिरिक्त कश्मीर के

सांस्कृतिक तीर्थ भूगोल से भी इसका घनिष्ठ संबन्ध है। भर्गशिखा भगवती का शाक्त-पीठ मार्तण्ड-तीर्थ (मट्टन ज़िला-अनन्तनाग) (कश्मीर) के सूर्य मन्दिर के ऊपर पहाड़ पर अवस्थित है। सूर्य क्षेत्र के इस तीर्थ पर कमल (शिव) विमल (शक्ति) के दो विशाल जलकुण्ड है और इन दोनो ही जलकुण्डों का पानी "चाका" (अणु या नर) अर्थात् "सूर्यचक्रसृतात् चाका" (भगवान सूर्य के चक्र से जन्मी हुई) नदी के रूप में प्रवाहित होता है। यहाँ इसी "चाका नदिया" के तट पर मृतक-पूर्वजों की मुक्ति के लिए द्वादशी या नारायण बलि के उपरान्त सूर्यबलि का कर्मकाण्डीय (द्वादशी) अनुष्ठान आयोजित किया जाता है। यह अनुष्ठान केवल लौंद या मलमास के महीने में ही करना संभव बनता है। मलमास (Lunar Month) या लौंद का तेरहवाँ चान्द्र-महीना प्रत्येक ढाई चान्द्र-वर्ष (Lunar Year) के उपरान्त आता है। इस अनुष्ठान में भी गोत्र के साथ उपपद के रूप में 'भर्ग' 'संलग्न' होकर रहता है जैसे 'माता......वात्स्य लौगाक्षि भर्ग"।

तथ्यों के विश्लेषण के उपरान्त यह निष्कर्ष कुछ-कुछ स्पष्ट होकर सामने आता है कि कश्मीर के शाक्त-चिन्तन, शैव दर्शन और स्थानीय रूप से विकसित कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों में एक गंभीर आपसी तालमेल अवश्य रहा है जिसको ईसा की तेरहवीं शती के अप्रत्याशित विदेशी विनाशकारी आक्रमणकारियों ने (सांस्कृतिक वैभव को) नष्ट-भ्रष्ट का डाला और विगत सात सौ वर्षो से इस प्रकार के संस्थान (Institutions) और खण्ड-विखण्डित होते आए हैं। इस तथ्य के ऐतिहासिक-साक्ष्य को ईसा की

पन्द्रहवीं शती के कश्मीरी-इतिहासकार जोनराज ने भी अपनी राजतंरगिणी में प्रस्तुत किए हैं:-

मरुद्भिरिव वृक्षाणां शालीनां शलभैरिव।
काश्मीरदेशाचाराणां ध्वंसोऽथ यवनैः कृतः

(जोनराज, ई. 1390-1459, राजतरंगिणी 578)

अर्थात् जिस प्रकार भयंकर और विनाशकारी बाढ़ के आने पर सारे ही वृक्ष अपनी जड़ों से उखड़कर धराशायी हो जाते है, अथवा, जिस प्रकार टिड्डियों के दल के आने पर हजारों मीलों पर खड़ी-खड़ी फसल नष्ट-भ्रष्ट होकर कट जाती है। इसी प्रकार का विनाशकारी ध्वंस आक्रमणकारी मुसलमानों ने कश्मीर में आकर यहां की चिर-प्राचीन संस्कृति सभ्यता, धर्म, दर्शन और जन-जीवन का कर डाला

कलाग्रि-रूद्र काली

कालक्रमाक्रान्त दिनेश चक्र-
क्रोडी कृतान्ताग्नि कलाप उग्रः।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां
तां नौमि कालानल रुद्रकालीम्॥१०॥

जो कालाग्नि-रुद्र-काली स्वतः अपने अभिन्न स्वरूप में अपनी ही अभेदता से कालक्रम के विभाजक बने हुए अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह स्वरुप इन पाँच कृत्यों तथा बारह सूर्य-रूपी प्रमाण-मण्डल को भी अपने में समेट लेकर अवस्थित है, तथा जो मित-प्रमातृ रूप, अर्थात् सीमित प्रमातृ-भाव, अर्थात् सीमित प्रमातृ-भाव, काल शक्ति को भी अपनी प्रखर तेजराशि के कारण पराकाली स्वरूप में विलय करती है और जिस अभिन्न और अपार प्रखर तेज राशि में स्वयं कालाग्रि रूद्र भी विलय होते हैं, उसी अपने से अभिन्न कालाग्रिरुद्र काली अर्थात् कालाग्रि रुद्र को भी अपने में विलय करने वाली परासंवित् भगवती को नमस्कार करता हूँ अर्थात् अपनी कल्पित अहन्ता उसी में लय कर रहा हूँ।

विशेष स्पष्टीकरणः-

श्री पञ्चशतिका शैवग्रन्थ में कालाग्रिरुद्र काली के भव्य स्वरूप का उल्लेख इस प्रकार से प्रस्तुत हुआ है :-

वरदा विश्वरूपा च गुणातीता परा कला।
अघोषा सास्वरारावा कालग्रि ग्रसनोद्यता॥
निरामया निराकारा यस्यां सा शाम्यति स्फुटम्।
कालाग्रिरुद्रकालीति सा ज्ञेयामरवन्दित॥

अर्थात् कालाग्रि रुद्रकाली स्वयं अपने असाधारण प्रभुत्व के कारण प्रथमत: वरदान देने के लए सदा ही तत्पर होकर बनी ही रहती है, जो स्वत: विश्वमय रूप होने के उपरान्त भी सत्त्वोगुण, रजोगुण और तमोगुण से सर्वथा उल्लघिंत है और जो काल कलना की उत्कृष्ट एक अपूर्व विस्मयजनक कला है और कलाग्नि रुद्रकाली की कालशक्ति में नितान्त ध्वनि का अभाव है, नाही सृजनात्मक शब्द की सरसराहट गोचर या सुनाई पड़ती है और न किसी प्रकार का नाद है फिर भी कालरूपी अग्नि को ग्रास करने में सक्षम है। स्वत: स्वभाव में निर्मल, निर्लेप और निराकार है, इस प्रकार, जिस असाधारण कालशक्ति में सब कुछ स्वाहा होता है वही कालाग्रि रुद्रकाली कहलाती है।

टिप्पणी:-

कथन का तात्पर्य स्पष्ट है, अर्थात् जो कालाग्नि रुद्रकाली स्वत: अपनी अबाध शक्ति से कालशक्ति की व्यवस्था बारह सूर्यो के कालचक्र को अपने अपार वर्चस्व में भयंकर कालशक्ति को अथवा कालरुद्र को अपने में लय करती है उसी कालानल रुद्रकाली अर्थात् समय ही मानो एक धधकती आग की भट्टी है उसी में काली का भंयकर-एक कालसंहार चलता है अर्थात् जिस आग की प्रखर ज्वाला में देह, प्राण पुर्यष्टक आदि स्वाहा होते हैं। उसी अनिर्वचनीय स्वरूप को प्रणाम करता हूँ।

'महाकाल काली'

नक्तं महाभूतलये श्मशाने
दिग्खेचरीचक्रगणेन साकम्।
कालीं महाकालमलंग्रसन्तीं
वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम्॥११॥

मैं अपने से अभिन्न काल की कलना से शून्य महाकाल काली को नमस्कार करता हूँ, जो महाकाल काली स्वत: भेद-प्रथा के स्वभाव में होने के उपरान्त भी बाह्य-प्रकाश के रहित है तथा जो इस महान् काल-रात्रि में, जहाँ पंचमहाभूतों के साथ ही देह-प्रमातृभाव, ''प्राण-प्रमातृ भाव'', ''पुर्यष्टक-प्रमातृ भाव'', और ''शून्य-प्रमातृ-भाव'' पूरी तरह ग्रास या विलीन हो चुके है, इस व्यवस्था में जब कि प्रकाश से संपन्न हृदय रूपी श्मशान में पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, अन्त:करण और ब्रह्मादिक खेचरी आदि शक्तियों को महाकाल ने अलंग्रास या आत्मसात् कर लिया हो। ऐसी स्थिति में जब केवल वायु और अग्नि ही आमने सामने हो, अर्थात् दोनों ही तत्त्व एक दूसरे को भडकाने वाले हो और स्थिति का बोध चिन्तन से उल्लंघित अथवा अकल्पनीय हो, ऐसा ही स्वरूप महाकालकाली का उल्लेखित हुआ है।

विशेष स्पष्टीकरण:

श्री पंचशतिका शैवग्रन्थ में महाकाल काली के स्वरूप-वर्णन

इस प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है:-

ऋतोज्ज्वला महादीप्ता सूर्यकोटिसमप्रभा।
कलाकलङ्करहिता कालस्य कलनोद्यता॥
यत्र सा लयमाप्रोति काल कालीति सा स्मृता॥

(तंत्रालोक, श्लो. 170, आह्निक-4)

'महाकाल काली' का स्वरूप अखण्ड सत्य के समान तेजस्वी, अपार, प्रकाश-दीप्तियों से सुशोभित तथा करोड़ों सूर्यों के समान जो प्रभापूर्ण है। महाकाल काली वह अनिर्वचनीय परम कला है, जो स्वयं अमल, विमल, और निर्लेप है, जो काल को काल की, गति से सदा जागरूक रखती है, अर्थात् काल के प्रवाह को सदा गतिशील रखती है। इस प्रकार जो अपनी अभिन्नता से सब को अपने में विलय करती है, वही महाकाल काली के नामकरण से सुशोभित है।

टिप्पणी:- महाकाल काली संवित् समावेश की स्थिति में पर-प्रमातृ-रूप अपनी ही अभिन्न संवित् में साधक अलंग्रास, अर्थात् निश्चियात्मक स्वरूप की स्थिति, के भैरवात्मक स्वरूप का अनुभव स्वयं करते है। इस अवस्था में प्रमेयवर्ग स्वत: संस्कारहीन होकर प्रशान्त बनकर रहते हैं और साधक इस अवस्था में काल-कलना को पार करके 'समना' नामक स्थिति पर विश्राम करते है। आचार्य उत्पलदेवजी ने इस अनुभूति को ''यत्र न कालधी: भवेत्'' (शिवस्तोत्रावली-8.12) अर्थात् इस 'समना' की अवस्था में काल-कलना परक बुद्धि 'सहायक' नहीं होती हैं।

समना की स्थिति में काल स्वतः कालातीत होता है। तंत्रालोक का साक्ष्य इस तथ्य का स्पष्टीकरण करते दोहराता है:-

'अव्ययमकुलममेयं विगलितसदसद्विवेकल्लोलम्'

(तंत्रालोक, श्ला.-170, आह्निक-4)

यह मग्न स्थिति अविनाशी, प्रभुत्वपूर्ण और पारमार्थिक है इस स्थिति में यथार्थ और अयथार्थ के विवेक की लहरें प्रशान्त और नगण्य हुआ करती हैं।

वास्तव में महाकाल काली की अवस्था में समस्त भाववर्ग ''भावव्राता:- प्रलयं अगमत् निर्विकल्पे समाधौ'' विशेष रूप से लय हो जाते हैं और निर्विकल्प समाधि की अनुकम्पा अथवा अनुग्रह साधक को प्राप्त होता है।

महाभैरव घोर-चण्ड काली

क्रमत्रयत्वाष्ट्रमरीचिचक्र-
संचार चातुर्यतुरीय सत्ताम्।
वन्दे महाभैरव घोरचण्ड -
कालीं कलाकाशशांक कान्तिम् ॥१२॥

जो परा संवित् भट्टारिका अपने स्वातंत्र्य एवं अबाध शक्ति-स्फार से प्रमाता (Knwer), प्रमाण (Knowledge) और प्रमेय (Known or-object) के तीन प्रभालेपी व्यवस्थित क्रमों के द्वारा चित्सूर्य के बारह मरीचि-चक्र अथवा बारह राशियों अर्थात् मेष राशि से मीन राशि तक, या बैशाख मास से चैत्र मास तक की परिधि में

विहार करके विविध सृजनात्मक विकास प्रदान करती है, और अपने निजी अबाध स्वातंत्र्य से जो पर-प्रमातृ रूप संवित् भट्टारिका (Universal - Conscieousness) स्वतः अनाख्य (नाम रहित) स्वरूप अर्थात् चौथी गौरवशाली सत्ता, जिस सत्ता का पर्याय नाम "काल संकर्षिणी" (Black Hole) काल मंज्जरी है और इसका स्वरूप अमाकला या कृष्ण-कला के प्रकाश से समृद्ध हुआ करता है। वास्तव में अमावस्या कला "अमृत कलशहस्ता" है, अर्थात् अपने अधिकार में अमृत का घड़ा लिए हुए बैठी है परं शाक्त-मत में अमाकला को बाँटने का अधिकार नहीं है, बाँटने का अधिकार मात्र षोडशी-पूर्णिमा को है।

उसी अपने से अभिन्न "महाभैरव - घोर - चण्ड' को नमस्कार करता हूँ, जो संवित् भट्टारिका - महाभैरव घोर चण्ड का स्वरूप - धारण करके क्रमशः (क) 'महाभैरव' स्वरूप से प्रमतृ-चक्र (ख) 'घोर' स्वरूप से प्रमाण-चक्र और (ग) चण्ड स्वरूप से प्रमेय-चक्र अर्थात् इन तीनों ही चक्रों को अनायास ग्रास करने के उपरान्त यही परा-संवित (Universal-Conscious-ness) स्वतः-अनाख्य (अनाम, अज्ञात) स्वरूप में निवास करती है (वैज्ञानिक एस. हॉवकिन के शब्दों में "Black Hole has no hair" कितना सापेक्ष है।

विशेष स्पष्टीकरणः

श्री पंचशतिका शैवग्रन्थ में महाभैरव घोरचण्ड काली का विवरण इस प्रकार से प्रस्तुत हुआ है :-

दशसप्त विसर्गस्था महाभैरव भीषणा।
संहरेद्भैखान्वान्सर्वान्विश्वं च सुरपूजित ॥
सान्तः शाम्यति यस्या च सा स्याद्भरित भैरवी।
महाभैरव चण्डोग्रघोरकाली परा च सा॥

(तंत्रालोक, श्ला. 172, आह्निक-4)

जो 'महाभैरवघोरचण्ड काली' के स्वरूप से प्रमातृ-चक्र, प्रमाण चक्र और प्रमेय-चक्र को अनायास ग्रास करने के उपरान्त स्वत: अनाख्य स्वरूप में निवास करती है। स्वत: 'महाभैरवचण्डोग्र घोर काली'' अर्थात् 'महाभैरव चण्ड, उग्र, एवं घोरकाली'' महाभैरव और भीषण होकर दस और सात कलाओं में अर्थात् अमावस्या की पन्द्रहवीं कला, पूर्णिमा की सोलहवीं कला और इसके उपरान्त अन्तत: भैरवी-मुद्रा की सत्तरहवीं कला अर्थात् विमला-कला में विद्यमान होकर उन्मेष और निमेष की क्रीडा करती ही रहती है:-

''नित्यं क्रीड़ा प्रसक्ता रचयति सकलं स्वात्मशकत्या''

अर्थात् जो प्रतिक्षण, प्रतिपल और प्रतिविपल उन्मेष और निमेष तथा सृष्टि और संहार अपने काल-शक्ति के चक्र में सतत करती ही रहती है।

अथवा जो, कर्मेन्द्रिय पाँच, ज्ञानेन्द्रिय पाँच, मन, बुद्धि अहंकार तथा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यावस्था इन्ही कर्म-परक, चेतना-परक और दिन एवं रात-परक अन्त:-बाह्य स्थितियों में

विचरण करती हैं। हे देवताओ के पूजनीय शकंर! इस प्रकार से ''महाभैरवचण्डोग्र-घोर काली'' तेरह भैरवों को ग्रास करती है ओर विश्व का भी इसी प्रकार ग्रास होता है। जहाँ पर ''महाभैरवचण्डोग्र घोर काली 'स्वत: प्रशान्त होती है, वह स्वयं ''भरित-भैरवी'' का स्वरूप है जिसको तंत्रविज्ञान में 'यामल-पीठ' कहते हैं।

टिप्पणी:-

तंत्रालोक के भाष्यकार आचार्य जयरथ ने अपने भाष्य में 'श्री पञ्चाशतिका' शैवग्रन्थ के 'उग्र' पद को भी अपने भाष्य में समेट लिया है। कारण यह है कि ''क्रमस्तोत्र'' के ''द्वादशकाली-स्तोत्र'' में बारहवें श्लोक में केवल 'महाभैरवघोरचण्ड काली' का नामकरण आया है जबकि श्री ''पञ्चशतिका शैव ग्रन्थ'' में इस काली का नाम ''महाभैरव चण्डोग्रघोरकाली'' आया है। इस की अर्थ-स्पष्टि को आचार्य जयरथ ने अपने तंत्रालोक के भाष्य में इस प्रकार समाधान ढूँढ निकाला है:-

(क) ''महाभैरव स्वरूप'' से प्रमातृ-चक्र को ग्रास करती है।

(ख) 'चण्ड स्वरूप' से मेय-चक्र को ग्रास करती है।

(ग) 'उग्र स्वरूप' से प्रमा-चक्र को ग्रास करती है।

(घ) 'घोर स्वरूप' से प्रमाण-चक्र को ग्रास करती है।

(तंत्रालोक, श्लोक 172, आह्निक-4)

तंत्रालोक के चौथे आह्निक में द्वादश काली और त्रयोदशकाली पर एक विशद् संवाद छिडा हुआ है। कई यह मान कर चलें हैं कि "द्वादशारावियोगेन देवी द्वादशधायजेत्"। श्री चक्र अथवा श्री यंत्र के द्वादशार के विभाजन के कारण देवी का स्वरूप केवल बारह तक ही सीमित है। परं कईयों की मान्यता तो यह है कि:-

त्रयोदशविधा काली विज्ञेया नाम-भेदतः" (तंत्रालोक श्लो. 173, 3104) "अर्थात् भगवती काली का स्वरूप तेरह पावन नामों से शोभित है" (अह्निक तंत्रालोक श्लो. 173)

जिज्ञासा के कारण यहाँ पर श्लोक प्रस्तुत करते है इस श्लोक, अर्थात् त्रयोदशी-काली का श्लोक "रूद्रकाली भट्टारक ग्रन्थ" में 'कालानलरूद्र काली" के शोभासंपन्न नाम से आया है:-

या सा जगद् ध्वंसयते समग्रं
मृत्योर्वपुर्ग्रास यतीति विष्वक्।
धामाग्रिरूपीय सहस्र दीप्तां
तां नौमि कालानलरूद्र कालीम्॥२३॥

(तंत्रालोक, श्ला. 172, आह्निक-4)

मैं उस अपने से अभिन्न संवित भट्टारिका को प्रणाम करता हूँ जो 'कालानलरूद्र काली' अर्थात् कालाग्नि को भी भद्रकाली के रूप में तथा इस समग्र विश्व को नष्ट-भ्रष्ट एवं विध्वंस करके इस संपूर्ण विश्व को अपने में लय करती है और अपने भयंकर एवं प्रखर आग की लपटों से और प्रज्जवलित ज्वालाओं से भस्म

करके संपूर्ण को ध्वंस कर लेती है, और अन्ततः अशेष भी इसी में गर्भित होता है। इसी तेरहवीं 'कालानलरूद्र काली' अर्थात् जिस में समय-चक्र अथवा कालचक्र पूर्णतः स्वाहा हो जाते हैं, उसी कालानल रूद्रकाली को प्रणाम करता हूँ।।

विद्यां परां कतिचिदम्बरमम्ब केचिद्
आनन्दमेव कतिचित्कतिचि मायाम्।
त्वां विश्वमाहुरपरे वयमामनाम
साक्षादपार करुणां गुरुमूर्तिमेव।।

हे जगदम्बा! विविध सिद्धान्तों, प्रणालियों और संप्रदायों के विविध भक्त आपके अपार शक्ति-प्रवाह का साक्षात्कार, समावेश चिन्तन और संपूजन विविध पद्धतियों से निरन्तर करते ही रहते है। वैदिक युगा और आरण्यक युग के वैदिक-ऋषि और उपनिषद के मननशील ऋषि तुम्हारा साक्षात्कार ब्राह्मी विद्या के रूप में करते हैं, उनका कहना है "साविद्या या विमुक्तये" अर्थात् उस अभिन्न-ज्ञान का समावेश होना चाहिए जो अज्ञान और शंका से मुक्ति दिलाए। महाशून्यवादी बौद्ध दर्शन के माध्यमिक-सिद्धान्त "माध्यमिक, अखिल विवर्त को शून्य का सृजन मानते हैं।" वेदान्त के सिद्धान्त को माननेवाले तुम्हें 'आनन्दस्वरूप' मानते हैं और उनकी मान्यता है "आनन्दात् इमानि भूतानि जायन्ते" अर्थात् यह समग्र सृजन आनन्द के फलस्वरूप ही होता है और उसी में लय भी होता है और कुछेक अर्थात् आदि-शंकराचार्य के मायावाद के पोषक तुम्हारा विश्लेषण 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या" और "मायासंवलित

सर्वश:'' ''अर्थात् ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है और सबही माया से पूरी तरह लिपटा हुआ है।'' भौतिकवादी चार्वाक, हे जगदम्बा! वे तो तुम्हारे स्वरूप को मात्र प्रत्यक्ष-विश्व अर्थात् पदार्थ और ऊर्जा के स्वरूप में दर्शन करते है किन्तु हम शाक्त और शैव सिद्धान्त और दर्शन के पल्लवित तुम्हारा साक्षात्कार विश्वमय तथा विश्वोत्तीर्ण, शिव अथवा गुरू के रूप में करते है। जो शिव स्वत: अपनी स्वतंत्र इच्छा से शिव-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक और पृथिवी-तत्त्व से लेकर शिव-तत्व तक अवरोहण और आरोहण सतत् करते ही करते ही रहते है।

ब्रह्मेन्द्ररुद्र हरिचन्द्रसहस्ररश्मि-
स्कन्दद्विपानन हुताशन वन्दितायै।
वागीश्वरि! त्रिभुवनेश्वरि! विश्वमात
रन्तर्बहिश्चकृतसंस्थितये नमस्ते॥

हे वाणी की देवी सरस्वती! हे भू: भुव: स्व:, इन तीन लोकों की देवी! हे इस समग्र विश्व सृजन करने वाली मां! आपके अन्त: स्वरूप, अर्थात् विश्वोत्तीर्ण स्वरूप को और आपके बाह्य-स्वरूप, अर्थात् विश्वमय स्वरूप को, अर्थात् इन दोनों ही अस्तित्वों को नमस्कार हो। हे परासेवित् भगवती। आपकी वन्दना, ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, विष्णु, चन्द्र, सूर्य, कुमार, गणेश और अग्निदेवता सतत ही करते रहते हैं।

"अथ भैरव स्तोत्र"

व्याप्तचराचरभाव विशेषं चिन्मयममेकमनन्तमनादिम्।
भैरवनाथमनाथ शरण्यं त्वन्मयचित्ततयाहृदि वन्दे।।

हे भैरवनाथ! यथार्थ में आपकी ही अनन्त और अपार चेतना सब ही चराचर में अनुस्यूत होकर व्याप्त है, परं आप स्वत: आरम्भ और अन्त के रहित होकर मात्र चैतन्य स्वरूप में अपने को लय करके मैं केवल चित्स्वरूप से आपको नमस्कार कर रहा हूँ।

त्वन्मयमेतदशेषमिदानीं भातिममत्वदनुग्रहशक्त्या।
त्वं च महेश! सदैव ममात्मा स्वात्ममयं मम तेन समस्तम्।।२।।

हे महेश! आपके अनुग्रह-शक्ति की क्षमता के फलस्वरूप यह समस्त विश्व मुझे आपके ही संवित् स्वरूप के रूप में दिखाई दे रहा है। मेरी अस्मिता भी आपके ही चित्स्वरूप में अवस्थित होने के कारण यह संपूर्ण विश्व भी सतत उसी में ओतप्रोत सा लगता है।

स्वात्मनि विश्वगते त्वयि नाथे तेन न संसृति भीति कथास्ति।
सत्स्वपि दुर्धर दु:ख विमोह त्रासविधायिषुकर्म गणेषु।।३।।

आपके स्वरूप से अभिन्न होने के कारण यह विश्व भी मुझे अपना ही चित्स्वरूप सा लगता है। अत: अपने से अभिन्न इस

विश्व के जन्म-मरण विवर्त्तन का कुछ भी भय मुझे नहीं है, माना पूर्व कर्मो के दुष्कर दुःख, मोह आदि यह अनन्त भय जागरूक भी है।

अन्तक! मां प्रति मा दृशमेकां क्रोधकरालतमांविदधीहि।
शंकर सेवन चिन्तन धीरो भीषण भैरव शक्ति मयोऽस्मि॥४॥

हे महाकाल! मुझ पर अपने विकराल क्रोध की दृष्टि डालने का साहस मत कीजिए, क्योंकि शंकर का स्मरण तथा निरन्तर विमर्शन करने के फलस्वरूप, मैं, धैर्यशील बन चुका हूँ और भैरव की अपार समर्थशील शक्ति मुझ में ओत-प्रोत हो चुकी है।

इत्थमुपोढ भवन्मयसंवित् दीधितिदारित भूरितमिस्रः।
मृत्यु यमान्ककर्मपिशाचैः नाथ! नमोऽस्तु न जातु बिभेमि॥५॥

हे शंकर! आपको नमस्कार हो, आपकी अबाध और अप्रतिहत सशक्त संवित् भगवती के अपार प्रकाश-पुज्जं के किरणों से मेरा समस्त अन्धकार विनष्ट हुआ है। इस कारण, अब मैं मृत्यु, यम, काल आदि कर्म-पिशाचों से जरा भी नहीं डरता हूँ।

प्रोदितसत्य विबोधमरीचि प्रोक्षित विश्वपदार्थसतत्त्वः।
भावपरामृत निर्भर पूर्णे त्वय्यहमात्मनि निर्वृत्तिमेमि॥६॥

मुझ में यथार्थ ज्ञान की किरणों का उन्मेष (सृजन) हुआ है।

अब तो समस्त पदार्थों की राशि निर्मल चित्-रस से आप्लावित हुई है। मैं आनन्द की अवस्था में विभोर होकर समस्त पदार्थ-राशि का साक्षात्कार मात्र अभेद चित्-अमृत की निर्भरता में ही अनुभव कर रहा हूँ।।

मानसगोचरमेति यदैव क्लेशदशातऽनुताप विधात्री।
नाथ तदैव ममत्वदभेद स्तोत्रपरामृतवृष्टिरुदेति।।७।।

हे नाथ! जब ही मेरे मन में संताप देने वाली असह्य और दुष्कर दु:ख की दशा का उदय होता है तो तात्क्षण आपके अभेद स्तोत्र रूपी अमृत वर्षा का बरसना आरम्भ होता है।

शंकर सत्यमिदं व्रतदान स्नानतपो भवताप विनाशि।
तावक शास्त्रपरामृत-चिन्ता सिन्धति चेतसिनिर्वृति धारा।।८।।

हे शंकर! यह स्वीकृत तथ्य है कि व्रत रखने से, दान देने से, तीर्थ स्नान करने से तथा तपस्या आदि के करने से संसार के दु:खों का नाश होता है। परं आपसे संबन्धित पराशास्त्र अथवा शैवशास्त्र रूपी अमृत का सतत विमर्श करने से अन्त:करणों में अपार आनन्द की धारा स्वत: ही प्रवाहित होती है।

नृत्यति गायति हृष्यतिगाढं संविदियं मम भैरव नाथ।
त्वां प्रियमाप्य सुदर्शनमेकं दुर्लभमन्य जनैः समयज्ञम्।।९।।

हे भैरव नाथ! आज मेरी यह संवित् भगवती अपने ही स्वरूप

में आपको पाकर बहुत ही सुन्दर एवं अनूठी बन आई है। निश्चय ही मैने अपने ही शरीर को हवि (घी की आहुति) बनाकर एक विचित्र यज्ञ का अनुष्ठान आयोजित किया है, जिसके फलस्वरूप और लोगों की तुलना में मुझे अपने स्वरूप प्राप्ति की अपार संपदा प्राप्त हुई है। इस कारण आप से अभिन्न, आपके स्वरूप में समावेश करके मेरी पराहन्ता संवित् प्रचुर उन्माद से गायन और नर्तन कर रही है।

वसुरस पौषे कृष्णदशम्यां अभिनवगुप्तः स्तवमिममकरोत्।
येन विभुर्भवमरु सन्तापं शमयति झटिति जनस्य दयालुः॥१०॥

मुझ अभिनवगुप्त ने इस भैरव स्तोत्र की संरचना, वसु (आठ की संख्या), रस (छः की संख्या) पौष (नवां महीना वैशाख से आरम्भ करके) अर्थात् विक्रमी सवत् 968 पौष के महीने के कृष्ण दशमी अर्थात् 912 ईस्वी और दिसबंर के महीने में (आचार्य अभिनवगुप्त जी ने इस स्तोत्र) की संरचना की है। इस स्तोत्र के पढने से अनुकम्पा करने वाले शंकर संसार रूपी मरूस्थल (रेगिस्तान) अर्थात् संसार की मरूमरीचि के संताप के शीघ्रातिशीघ्र विमुक्त करे।

टिप्पणी:-

'स्वर्गीय प्रकाशचन्द्र' और स्वर्गीय आनन्द भैरव (1864-1930 ई0) के शारदा लिपि के ग्रन्थ ''भैरव स्तोत्र'' के साक्ष्य से यह

स्पष्ट होता है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने पौष मास के कृष्ण पक्ष के दशमी को "आनन्देश्वर भैरव" के भैरव-यज्ञ पर इस स्तोत्र की संरचना की। "आनन्देश्वर-भैरव" की महापर्व जयन्ती का उत्सव इसी दिन पड़ता है। कल्हण ने श्रीनगर के इस भूभाग का नाम "माक्षिकास्वामी" (आधुनिक श्रीनगर मायिसुम), दिया है (कल्हण: राजतरंगिणी : 88/4)

हरिरेव जगज्जगदेव हरि: हरितो जगतो नहिभिन्नमणु।
इति यस्यमति परमार्थ गति स नरो भवसागर मुत्तरति॥११॥

प्रभु जगदेश ही जगत है और जगत् ही जगदेश है। जगदेश और जगत के ऐक्य में इन दोनों से जीव (प्राणी-मात्र) किंचित् भी भिन्न नहीं है अर्थात् जगदेश, जगत और जीव में अंशमात्र की भी भिन्नता नहीं है। जो उपासक इस प्रकार के चिन्तन-मनन में सलंग्न हुआ हो वही उपासक सहज रूप में इस भवसागर को पार कर लेता है।

आदावन्ते चिद्रसरूपं मध्येचिद्रसबुद्बुद रूपम्।
भातं भातं भारूपं स्यात् नो भातं चेन्नितरां न स्याद्॥१२॥

इस दृश्यमान जगत के सृजन से पूर्व इस विश्व की सत्ता चेतना के उल्लासमय रस में गर्भित होकर अवस्थित थी और मध्यावस्था के उल्लास के फलस्वरूप यही आनन्दमय चिद्रस जगत-विकास के रूप में, भेद और विभिन्नता का सृजन करके उसी प्रकार प्रकट हुआ, जिस प्रकार असीम सागर में भिन्न-भिन्न रूप, स्वरूप और

आकार के बुलबुले प्रकट होते हैं पर मौलिक रूप से बुलबुला स्वयं पानी का ही एक क्षणिक विकास है। इसी प्रकार सतत विमर्श करने के उपरान्त कि अभेद ही स्वयं अपनी महान्-शक्ति और स्वभाव के फलस्वरूप जगत के रूप में उभर कर प्रकट होता है जो वस्तुत: उसी का अपना स्वभाव है। यह विद्यमान जगत वस्तुत: उसी प्रकाश के फलस्वरूप प्रकाश में आता है वास्तव में, स्वत: भेद की कोई अपनी सत्ता नहीं है अत: भेद भी उसी अभेद के फलस्वरूप सत्ता के अस्तित्व में आता हैं।

ॐ शंनो मित्रा: शंवरुण: शंनो भवत्वर्यमा। शंनो इन्द्रो बृहस्पति। शंनो विष्णुरुक्रम:। नमो ब्राह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं-ब्रहासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मवदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। अवतु माम्वतु वक्तारं ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति। मित्र (सूर्य देवता) हमारे लिए सुखकर हो, वरुण देव (जल के देवता) हमारे लिए सुखद हो, अर्यमा देवता (पितृ-देवता) हमारे लिए कल्याण कारक हो। इन्द्रदेवता और आचार्य ब्रहस्पति हमारे लिए शान्तिदायक हो तथा जिस विष्णु का (सूर्य) पादन्यास बहुत विस्तृत है, वह हमारे लिए सुखदायक हो। ब्रह्मम् (वायु रुप) को नमस्कार हो। हे वायु! तुम्हें नमस्कार है तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुम्हीं को मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहुंगा। मैं तुम्हीं को ऋुत (परमार्थ-सत्य) कहूँगा और मैं तुम्हीं को सत्य कहुंगा। वही वायुरूप ब्रह्म मुझे ज्ञान-विज्ञान की विद्या से संपन्न करे एवं संरक्षण करे, मेरे पावन आचार्य की रक्षा करे। मुझे तीन तापों से, अर्थात् आणव-मल, मायामल ओर कार्ममल से मुक्त करें।।

**ॐ सहनाववतु, सहनौ भुनक्तु सहवीर्य-
करवावहै, तेजस्विनावधीतमस्तु मा-
विद्विषावहै। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति**

अपने से अभिन्न परम पिता परमात्मका हम, अर्थात् आचार्य और शिष्य तथा समस्त प्राणी मात्र की प्रतिरक्षण एवं प्रतिपल रक्षा करें, हम सबों ही का साथ-साथ पालन करें, हम साथ-साथ ज्ञान विज्ञान का अध्ययन और पठन-पाठन की अपार शक्ति प्राप्त करें। हम जिस ज्ञान-विज्ञान का अध्यापन एवं अध्ययन कर रहे हैं वह हमारे लिए तेजस्वी हो और वर्चस्व देनेवाला हो। हम में किसी के प्रति द्वेष न हो और हम में कायिक, वाचिक ओर मानिक शुद्धता कूट-कूट के सन्निहित हो।

**ॐ शंनो मित्रः शंवरुणः। शंनो भवत्वर्यमा शंनो इन्द्रो बृहस्पतिः। शंनो विष्णुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्।
सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीत् वक्तारम्। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति**

मित्र (सूर्य देवता) हमारे लिए सुखद हो, जल देवता वरुण हमारे लिए मंगलमय हो, अर्यमा देवता अर्थात् पित्र्य-देवता हमारे लिए कल्याणकारी हो, बृहस्पति हमारे लिए ज्ञान-विज्ञान की अनुंकपा करने वाला हो और आकाश का विहार करने वाला

विष्णु (सूर्य) हमारे लिए लाभदायक हो। इस ब्रह्म-रूप वायु को नमस्कार हो, हे वायु देवता तुम्हें नमस्कार हो। तुम प्राण वायु के रूप में निश्चय से ब्रह्म हो अतः तुम्हे नमस्कार हो। तुम हो ऋत और सत्य अर्थात् श्रेय और प्रिय हो। तुम्हे ही यथार्थ ही प्रत्यभिज्ञा करते हो। ब्रह्मज्ञान के तात्त्विक व्याख्याता आचार्य अर्थात् ज्ञान के मार्ग का खोजी गुरूदेव का सरंक्षण बना रहे और आणवमल, मायामल और कार्ममल पूर्णतः धुल जाए और प्रशस्त मोक्ष की प्राप्ति संभव बन जाए।

ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि
जीवन्ति यं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तज्जिज्ञासस्व तदेव ब्रह्म!

जिस परासंवित् से यह संपूर्ण-विश्व अनन्त शब्द-राशि से अस्तित्व में आता है, जिस पराप्रकाश से उत्पन्न इस सब का सृजन, संस्थापन और संहरण होता है, जिस की इच्छा शक्ति के फलस्वरूप यह उन्मेष में आया हुआ समग्र विश्व अन्ततः उसी में लय होता है, वस्तुतः ज्ञान के उपासक उसी के चिन्तन और मनन में तल्लीन होकर खोजते हैं वहीं तो परंब्रह्म है और वही प्रकाश है। उसी को जानने का प्रयत्न करना वांछनीय है।

ॐ सतो वा इमानि भूतानि जायन्ते सति जायन्ति -
जीवन्ति सन्तं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति सदेव ब्रह्म॥

यह समस्त विश्व के चराचर प्राणी संपूर्ण प्रमेय-वर्ग (objective-

universe) सत् स्वरूप के उन्मेष से अत्पन्न होते हैं, सत् स्वरूप से आविर्भूत होकर प्रत्येक अपना अपना अस्तित्व गृहण करते है और अन्ततः सत् स्वरूप में ही विलय होकर उसी सत् स्वरूप में विश्राम करते हैं। अतः वही अपने से अभिन्न सत् ही ब्रह्म का स्वरूप है।।

चित्तो वा इमानि भूतानि जायन्ते चिति जातानि
जीवन्ति चितं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति चिदेव ब्रह्म।।

यह असख्य जड़ चेतन पदार्थ राशि चित् स्वरूप के उन्मेष से आविर्भाव में आते हैं, चित् स्वरूप से आविर्भूत होकर अपना अस्तित्व गृहण करता हैं और अन्ततः चित् स्वरूप में ही प्रवेश करके वहीं विश्रान्ति करते हैं। अतः वही अपने से अभिन्न चित्त ही ब्रह्म का स्वरूप है।

आनन्दात् खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन
जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति आनन्दं ब्रह्म।।

यह समस्त चराचर प्राणी वर्ग एवं पदार्थराशि आनन्द-उल्लास के उन्मेष से उत्पन्न होते हैं, आनन्द स्वरूप से अविर्भूत होकर अपना-अपना अस्तित्व गृहण करते हैं और अन्ततः उल्लासमय आनन्द स्वरूप से प्रवेश करके वहीं विश्रान्ति प्राप्त करते हैं। अतः वहीं अपने से अभिन्न आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है।

मत्तो वा इमानि भूतानि जायन्ते
मयि जातानि जीवन्ति मां -
प्रयन्ति अभिसंविशन्ति - अहमेव ब्रह्म॥

महामाहेश्वचार्य स्वामी (श्रीराम की सवात्म अनुभूति)

इस समस्त अखण्ड विश्व की चराचर भूतराशि मेरे ही पराहन्ता अहं स्वरुप के उन्मेष से अस्तित्व में आती है, और मेरे अस्तित्व के फलस्वरूप ही अपना अस्तित्व सुरक्षित और संरक्षित रख पाते हैं और अन्ततः मेरे ही अहं-स्वरूप में प्रवेश करके उसी मेरी पराहन्ता के स्वरूप में विलय होकर विश्रान्ति लेते हैं। अतः मैं ही अकृत्रिम अहं स्वरूप शिव हूँ।

आत्मक्रीडा आत्मरूचिः क्रियावान् -
य एष ब्रह्मविद्वान् वरिष्ठः।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्याम॥

ब्रह्म अनुभूति के प्रति यह जिज्ञासुशील मुमुक्षु साधक सतत साधना की क्रिया में केवल अपने से अभिन्न आत्म-स्वरूप में रमण-क्रीडा करता रहता है, उसी अभिन्न आत्म-स्वरूप के चिन्तन में ध्यानस्थ होकर मग्न रहता है। जो साधक इसको अपने में लय करता है, उसी को यह अभिन्न आत्मा अपने में विलय करके एकाकार होता है।

ददातीष्टान्भोगान्क्षपयति रिपून्हन्ति विपदो
दहत्याधीन् व्याधीन् शमयति सुखानि प्रतनुते।
हठादन्तर्दुःखं दलयति पिनष्टीष्ट विरहं
सकृत्ध्याता देवीं किमिव निरवद्यं न कुरूते।।

जिस भक्त ने मात्र एक ही बार अनन्य भाव से भगवती का चिन्तन एवं मनन किया हो, उस भाग्यशाली भक्त को कौन-कौन सी संपदाएं प्राप्त नहीं होती हैं? अर्थात् इच्छानुकूल सब ही भोग प्राप्त होते हैं, मानसिक और सामाजिक शत्रुओं का विनाश होता है, अन्तः-बाह्य विपदाएँ विनष्ट होती हैं। मानसिक और शारीरिक कष्ट छूट जाते हैं और नवीन सुख-सुविधाऐं प्राप्त होती हैं। मन, बुद्धि और अहंकार से उत्पन्न दुखों का भी नाश होता है। विरह एवं वियोग-संयोग में बदलता है तथा वह कौन सी दुर्लभ वस्तु है जो महामाया की अनुकंपा से प्राप्त नहीं होती हैं।

सुघासिन्धुर्मध्ये सुरविटपवाटी परिवृते
मणि द्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणि गृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिव पर्यङ्क निलयां
भजन्ते त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दहरीम्।।

हे जगद्अम्बा! अमृत के सागर के बीच चारों ओर स्वर्ग के कल्पवृक्षों की हरियाली से आच्छादित होने के निर्मित द्वीप (टापू) में तथा बरसात में खिलने वाले कदम्ब के पेडों से संपन्न तथा चिन्तामणि नामक रत्नों से निर्मित घर में तथा शिवरूपी मंच

पर और परमशिव रूपी पलंग पर सुशोभित तथा चित् और आनन्द के लहरायमान साज-सज्जा से शोभित इस तुम्हारे भव्य एवं दिव्य रूप को कोई विरला ही भक्तवर समावेश कर पाता है।

टिप्पणी:

''सौन्दर्य लहरी'' उपर्युक्त श्लोक में ''सुधा सिन्धु'' की पंक्ति से लेकर ''चिन्तामणि गृहे'' पर्यन्त ''क्रिया-शक्ति'' के अबाध स्पन्द का विस्फार और विकास का वर्णन हुआ है। ''शिवाकारे मञ्चे'' की पंक्ति में ''ज्ञान-शक्ति'' के असीम प्रवाह का स्पष्टीकरण हुआ है और अन्ततः ''चिदानन्द'' दो शब्द-बिम्बों के माध्यम से ''चित्'' और आनन्द'' के अलौकिक और अनिर्वचनीय स्थिति का बोध प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक में चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया के स्वरूप का एक अपूर्व एवं संश्लष्ट, किन्तु गोपनीय वर्णन हुआ है।

मनुष्यास्तिर्यञ्चो मरुत इति लोकत्रयमिदं
भवाम्बोघौ मग्नं त्रिगुण लहरीकोटिलुठितम्।
कटाक्ष श्चेदत्र कव्चन तव मातः करुणया
शरीरी सद्योऽयं व्रजति परमानन्द तनुताम्।

''स्त्री-मनुष्य समाज'' ''पशु, पक्षी, कीट और पतंग समाज'', वायवी विद्याधर, गन्धर्व आदि देवताओं का समाज'' इस प्रकार ये

तीन कोटिटों के चेतना-वाहक प्राणी अपने आणव-मल, माया-मल और कार्म-मल अथवा सत्त्वोगुण, रजोगुण और तमोगुण के इस जनन-मरण के सतत तथा परिवर्तनशील तूफानी लहरों से करोड़ों बार अथवा बार-बार ऊब-चूब और डूबन-उभरन करते ही रहते हैं। हे जगज्जननी! यदि इस करुणाजनक स्थिति के भँवर में उलझे हुए या भँवर में झूल रहें प्राणी को अनायास आपकी अनुकंपा अथवा अनुग्रह का कटाक्ष संभव बन पाया हो तो सहज रूप में उसके सब ही संकल्प और विकल्प तात्क्षण समाप्त होकर, सहसा उस साधक को अलौकिक मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है।

तडिद्वल्लीं नित्याममृतसरितं पार रहितां
मलोत्तीर्णां ज्योत्स्नां प्रकृतिमगुणग्रन्थि गहनाम्।
गिरां दूरां विद्यामविनत कुचां विश्व जननीम् -
अपर्यन्तां लक्ष्मीमभिदधति संतो भगवतीम्॥

शाक्त-विस्फार के उपासक भगवती के विविध शक्ति-प्रवाहों का साक्षात्कार विधि प्रकार से करते हैं: 'चिरस्थायी बिजली (कौंध) की लता के समान, अनन्त प्रवाहिणी चित्-अमृत नदी के समान, निष्कलंक चन्द्रमा की चाँदनी के समान, गुणों, अर्थात् सत्त्वोगुण, रजोगुण और तमोगुण की ग्रन्थियों (बन्धन) के रहित, स्वयं "प्रज्ञापारमिता" प्रकृति के समान, वाणियों, अर्थात् वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती से उल्लंघित परावाणी के समान तथा विश्वमाता होने के उपरान्त भी जिसके स्तन अर्थात् ज्ञान और क्रिया रूप के दो स्तन, विश्वप्रजा को स्तन-पान, अर्थात् दूध

पिलाने के उपरान्त भी जिसके स्तन (ज्ञान और क्रिया) नीचे की ओर झुक नहीं आए है, अर्थात् ज्ञान-विज्ञान के रसपान कराने के उपरान्त भी जिस मातृ-स्नेह का वात्सल्य धीमा नहीं हुआ हैं। इस प्रकार जगज्जननी के उपासक जगदम्बा को भिन्न-भिन्न स्वरूपों, आयामों और बिम्बों में लक्ष्मी-स्वरूप भगवती का समावेश करते हैं।

असंख्यै प्राचीनैर्जननि! जननै कर्म विलयात्
गते जन्मन्यन्तं गुरुवपुषमसाद्य गिरिशम्।
अवाप्याज्ञां शैवी क्रमतनुरपि त्वां विदितवान्
नयेयं त्वत्पूजास्तुति विरचनेनैव दिवसान्॥

हे माता! विगत जन्मों के असंख्य जनन-मरण की अनन्त परंपरा में चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भटककर और घूमकर, अन्ततः हे माँ! आपकी कृपा से अब इन सारे के सारे ही विगत जन्मों के कर्मफलों का लेखा जोखा समाप्त हुआ है और अब यह मनुष्य जन्म उपलब्ध हुआ है। इस मोक्ष मिलने वाले जन्म में मुझे गुरु के रूप में भगवान शंकर का अनुग्रह भाग्यों के फल स्वरूप प्राप्त हुआ हैं, और उसी अनुकम्पा के कारण मुझे शैवदर्शन की दीक्षा का समावेश उपलब्ध हुआ, जिस के दीक्षा के तंत्र का आसूत्रण इस प्रकार से व्यक्त हुआ है अर्थात् "प्रत्यभिज्ञात निज स्वातंत्र्य इव मुक्ति" "अपने स्वरूप की वास्तविक स्वतंत्रता की प्रत्यभिज्ञा (Recognition) का होना ही मुक्ति है।" इस प्रकार के परमार्थ से अब अपने ही शिव स्वरूप का मनन कर रहा हूँ और

जीवन के शेष दिनों में यही प्रबल अभिलाषा करता हूँ कि इस जन्म के शेष दिन "विरचन" अर्थात् उत्तरोत्तर स्वात्म-विकास, स्वात्म-अनुभूति और स्वात्म-समावेश के परामर्श का मनन एवं चिन्तन बना रहे और इसी मधुमति भूमिका में शेष समय की अवधि व्यतीत हो जाए ।

"अथ महामाहेश्वराचार्य श्रीराम वन्दना"

प्रसन्नैकचित्तं दयासान्तः मन्तः
प्रकामं हितं श्री शिव प्रेष्ट गोत्रम्।
शिवाद्वैतसिद्धान्त विश्रान्ति क्षेत्रम्
स्वतन्त्रं भजे सदगरुं रामचन्द्रम ॥१॥

मै, स्वांतत्र्य स्वभाव से समृद्ध अपने अद्वितीय गुरुदेव श्रीराम की वन्दना करता हूँ, जो स्वतः आणव-मल, माया-मल और कार्म-मल से मुक्त हो चुके हैं, जो अपने दिव्य-स्वरूप के कारण सतत मनन-चिन्तन की अवस्था में विराजमान होकर रहते हैं, जिनके प्रादुर्भाव में अपार करुणा की गम्भीरता विद्यमान है, जिनके चिन्तन में भक्तों के प्रति अनुकंपा बनी रहती है, गोत्र-परंपरा में जो गुरुदेव वैदिक ऋषि 'उपमन्यु' से सम्बन्धित है तथा जिस गुरूदेव के आत्म-साक्षात्कार में शैव-दर्शन के त्रिक-सिद्धान्त, अर्थात् "शिव", "शक्ति" और "अणु या नर", का परा-समावेश सन्निहित है।

मृन्दु स्पर्शगात्रं विधुस्मेरवक्त्रं
त्रिकाम्नाय नेत्रं शुकाब्धीन्दु रत्नम्।
अमर्याद कारुण्य पात्रं पवित्रं
स्वतन्त्रं भजे सदगुरुं रामरत्न॥२॥

मैं, स्वातन्त्र-स्वभाव से संपन्न, अर्थात् शिव-तत्त्व से लेकर

पृथिवी-तत्त्व तक क्रीडा-शील गुरुदेव को नमस्कार करता हूँ जिन की काया नवनीत सी कोमलकान्त है, अर्थात् जिस काया के संस्पर्श से और चरण-वन्दना से परमार्थ-ज्ञान का अमूल्य-प्रसाद सहज में उपलब्ध होता है। जिस गुरूदेव के मुख-रूपी चन्द्रमा के दर्शन से स्वात्म साक्षात्कार अनायास रूप में होता है, जो गुरूदेव "त्रिक-दर्शन" के गंभीर-पहेलियों और दार्शनिक-ग्रन्थियों को सुझाने और समझाने के लिए स्वतः प्रकाश और विमर्श की उल्का के समान है, जो गुरूदेव अपने पितृ-श्री शुकदेव जी भट्टारक (कश्मीरी भाषा अपभ्रंश में भ्रोरू॑) के निजी ज्ञान-विज्ञान के महासागर के समुद्र-मन्थन जैसी लीला में चन्द्रमा रूपी रत्न के समान आर्विभूत हुए हैं और जिनकी पावन करुणा, दया और अनुकंपा की कोई भी निश्चित सीमा नहीं है अर्थात् असीम दया भक्तों पर सदा, सर्वदा और सर्वथा करते हैं।

सदा स्वात्मनिष्टं स्वनिष्टापराणा
मनेकार्ति कष्टापहं दृष्टतत्त्वम्।
निजाभीष्ट दान प्रवीणं धुरीषं
स्वतंन्त्रं भजे सदगुरुं रामभद्रम्।।

जो गुरूदेव अपने शालीन स्वातंत्र्य-स्वभाव से संपन्न है, अर्थात् स्वतः अपने स्वरूप में शिव-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक और पृथिवी-तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक क्रीड़ाशील होने के उपरान्त भी भक्तों को भी इस अवस्था का बोध कराने में सक्षम

है, जो कालजयी गुरूदेव अपने संवित-परामर्श में विमग्न होकर भी अपने भक्तजनों के अनेकों कष्टों एवं दुःखों के निवारण में सतत जागरूक होकर प्रयत्नशील रहते हैं, तथा जो भक्तजनों के मनोवांछित आध्यात्म-प्रशान्ति और उपदेश देने में सदा ही प्रवीण ओर धुरीण होकर तत्पर रहते हैं, उसी अपने से अभिन्न गुरूदेव को नमस्कार करता हूँ।

भवव्यालभीतान् मिताहं निगीर्णान्
निरस्तोदयस्तान् समस्ताननीशान्।
जनानीदृशास्त्रातुमाविर्भवन्तं
स्वतन्त्रं भजे सद्गुरुं राममित्रम्॥४॥

मैं अमित एवं अपार स्वातंत्र्य-स्वभाव से समृद्ध एवं सक्षम गुरुदेव को नमस्कार करता हूँ, जो निरन्तर शिवतत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्व तक आरोहण एवं अवरोहण करते ही रहते हैं, सांसारिक विषय-रूपी साँपों के डसने के भय से भयभीत बने हुए, अपने कृत्रिम अहंकार में मदमस्त बने हुए और जनन-मरण के भँवर में झूल रहे मनुष्यों के सुधार और उद्धार के लिए ही गुरुदेव श्रीराम ने अपना आविर्भाव इस पृथिवी पर स्वीकार कर लिया है। (इस प्रकार के गुरूदेव की वन्दना करता हूँ)

दधानं मनोहारि सौन्दर्य मूर्ति
प्रधानं महद्भाग्यवत्सन्निधानम्।
समाधानमन्त सुखालम्ब बुद्धेः
स्वतंन्त्र भजे सदगुरुं रामीशम्॥५॥

मैं, स्वातंत्र्य-स्वभाव से संपन्न एवं सशक्त गुरुदेव को प्रणाम करता हूँ जिनका अस्तित्व प्रत्येक तत्त्व में परिव्याप्त है, जिन्होंने अपने भक्तजनों के आह्लाद के लिए मनोहर सौंदर्य से संपन्न स्वरूप को धारण कर लिया है तथा जो भाग्यशाली भक्तजनों के लिए अपार आध्यात्मिक धनराशि का संचित-कोष है तथा जिस गुरुदेव ने शिष्यों की शंकाओं का समाधान ढूँढने के लिए आत्मसुख की वाहिका बुद्धि को स्थिर किया है अर्थात् जो अपनी पारमार्थिक-बुद्धि से शिष्यों को मानसिक सुख देते है,

सुशैवागमश्रौतसिद्धान्त तत्त्वं
सुनिष्कृष्य कारुण्यतः सारभूतम्।
जनेभ्यः स्वतः प्रेष्टनैज प्रधानं
स्वतन्त्रं भजे सदुरुं रामकोशम्॥६॥

मैं (अपने से अभिन्न) असीम स्वातंत्र्य से संपन्न तथा शिव-स्वभाव की अपार राशि या कोश में रमण करने वाले गुरुदेव श्रीराम को नमस्कार करता हूँ, जिस गुरुदेव ने शैव दर्शन के शास्त्रों का और वैदिक-शास्त्रों का गहन अध्ययन करने के उपरान्त सारभूत परमशिव-तत्त्व में समावेश किया है। इस परा संवित् के साक्षात्कार

करने के उपरान्त भी गुरुदेव ने भक्तजनों पर अनुग्रह करके उन्हें भी परमार्थ-लाभ का प्रशस्त मार्ग दिखाकर उन्हें भी आध्यात्मिक ज्ञान से समृद्ध कराया।

यदीय प्रबोधात्परं तत्त्वमाद्यं
स्वयं नित्यमाभातिक्षित्यन्त वासम्।
विनिर्धूतभेदाः पदद्वन्द्वनुत्त्या
स्वतंत्र भजे सद्गुरुं राममीडयम्॥७॥

मैं अपने से अभिन्न, अपार स्वातंत्र्य से संपन्न अर्थात् शिव-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक रमण-क्रीडा करने वाले गुरुदेव को नमस्कार करता हूँ जो परमशिव स्वरूप के अनन्य-स्वभाव में सतत आनन्द-मग्न होकर भी पृथिवी-तत्त्व तक अबाध विचरण करते ही रहते हैं, अपार करुणा के फलस्वरूप जो गुरुदेव ज्ञान और क्रिया रूपी अपने चरण-कमलों की अनुकंपा से अपने भक्तजनों के भेदपरक अज्ञान का निवारण करके उन्हें प्रकाश और विमर्श से अह्लादित करते है।

यदालोकनान्नान्यदालोकनीयं
समलोक्यते लोकबाह्यावलोकैः।
अलोकं हि लोकस्वभवानुकूलं
स्वतंत्रं भजे सद्गुरूं रूद्रमूर्तिम्॥९॥

मैं अपने से अभिन्न, स्वात्म-स्वातंत्र्य से संपन्न शिव-तत्त्व से

लेकर पृथिवी-तत्त्व तक और पृथिवी-तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक विचरण शील तथा सृष्टि, स्थिति आदि लीला में सतत रमण करनेवाले रुद्ररूप गुरुदेव को नमस्कार करता हूँ, जिस गुरुदेव के विमर्श-शील अलौकिक दर्शन मात्र से ही साधारण भक्तजन भी इस भेदमय जगत का साक्षात्कार-शिव-स्वरूप में करने की क्षमता अपनाते है। इस प्रकार के गुरुदेव विश्वोत्तीर्ण होकर भी विश्वमय व्यवहार करते हैं।

टिप्पणी:-

अर्थात् ''यत् आलोकनात् न अन्यत् आलोकनीयम्'' जिसके दर्शनमात्र से शेष को किसी को देखने की इच्छा नहीं उपजती है और जिस में समस्त बाह्य लोक गर्भित होता है।

पठेदष्टकं सद्गुरोस्त्रक्षमूर्तेः
तथा यः पुनाम् श्रद्धायासंश्रृणोति।
तदीयानुकम्पावशाच्छीघ्रमेव -
अजस्रं स्व साम्राज्यतामाप्नुयात्सः॥९॥

जो भक्त श्रद्धायुक्त साक्षात् शिव स्वरूप गुरुदेव महा माहेश्वराचार्य श्रीराम से संबधित इस अस्तुति के इन आठ श्लोकों की वन्दना करता है, अथवा सुनता है वह निस्सन्देह ही आराध्य गुरुदवे की अनुकंपा से शीघ्र से आत्मस्वरूप को प्राप्त करके

अपने शक्ति-समूह पर विजयी बनकर चक्रेश्वरः स्वरूप के समान बनता है।

महामाहेश्वराचार्य स्वामि श्रीरामपादानुरागी-
महाराजप्रतापसिंह लब्ध प्रशस्त-
दैवज्ञवर्यः श्रीमद्भिः नारायण यक्ष-
शास्त्रिभिः विरचिता इयं
गुरूस्तुतिः-
संपूर्णम्॥

महामहेश्वरी श्रीराम गुरुः स्तुति

यः सर्वात्माखिलजनविभुर्देवदेवो महेशः
स्वातन्त्र्यस्थो ध्रुवपदगतो निश्चलात्मावरेण्यः।
विश्वोत्तीर्णोभव भयहरः स्वेच्छयाविश्वपूर्ण -
स्तं श्रीरामं त्रिभुवनगुरूं स्वात्मरुपं नमामि॥१॥

मैं तीन भुवनों के स्वामी अर्थात् भूः, भुवः, और स्वः, अथवा-भव, सुभव, तथा अतिभव, अथवा शिव, शक्ति एवं अणु अथवा शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय और अनुपाय अथवा इच्छाशक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रियशक्ति के विकास एवं उल्लास में अबाध रूप से अवरोहण और आरोहन करने में सशक्त है तथा जो परा-शक्ति में विद्यमान होकर भी स्वतः पश्यन्ती, मध्यमा और वैख्वरी स्वरूप से तीन भवनों में स्वछन्द-इच्छा शक्ति से ओतप्रोत है तथा जो अपनी अभिन्न संवित् शक्ति के अनिर्वचनीय आनन्द में सतत रमण-क्रीड़ा के कारण 'राम' इस प्रकार के नाम से इस जगत में अपनी इच्छा से प्रकट होकर अवत्तीर्ण हुए हैं, इस प्रकार के अप्रतिम और चक्रेश्वररूप गुरुदेव को अपने से अभिन्न स्वरूप में नमस्कार करता हूँ अर्थात् अपने संवित्-स्वरूप में पूर्वतः ही अवस्थित गुरुदेव को नमस्कार करता हूँ, जो जगद्गुरू स्वतः अपने वास्तविक स्वरूप में बाह्य-जगत से उल्लघिंत है किन्तु विश्वमय होकर सबों में ओतप्रोत है, जो पारमार्थिक ऐश्वर्य के कारण

देवताओं के स्वामी है और जो अबाद्य स्वातंत्र्य के कारण अपनी अप्रतिहत इच्छा से शिव-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक आरोहण-अवरोहन करते ही रहते है, जो स्वत: परमशिव स्वरूप में ध्रुव (अटल) स्वभाव से अवस्थित होकर भी अपनी अभिन्न चित्-शक्ति से विश्वमय होकर अपने भक्तों को काल के भय की पीड़ा को दूर करने के लिए अवतीर्ण हुए हैं, उसी विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण गुरू की अर्चना करता हूँ।

यस्मादीशात्प्रसरति शिव तत्त्व प्रभृतिज्यान्तं
विश्वमेतत्परम वपुषा स्थीयते येन सभ्यक्।
यस्मिंस्तोयमिव क्रमतया लीयते वारि राशौ
तं श्रीरामं त्रिभुवन गुरुं स्वात्मरूपं नमामि॥२॥

जो गुरुदेव अपने स्वातंत्र्य-संपन्न अपार शक्ति से स्वयं शिव-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व एवं पृथिवी-तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक अवरोहण तथ आरोहन सतत करते ही रहते है और उन्मेषित या सृजित विश्व को अपने उत्कर्ष-स्वरूप में ठहराकर सही ढंग से इसका संरक्षण करते हैं और अन्तत: जिस गुरुदेव के संवित् स्वरूप में यह अपार प्रमेय-विश्‍व को अपने उत्कर्ष-स्वरूप में ठहराकर सही ढंग से इसका संरक्षण करते हैं और अन्तत: जिस गुरूदेव के संवित् स्वरूप में यह अपार प्रमेय- विश्‍व (objective universe) उसी प्रकार विलय होता है, जिस प्रकार इस पृथिवी का सारा पानी रिस-रिस कर और सिमट-सिमट कर सारे ही

सागरों और समुद्रों में समाजाता है। उसी अपने से अभिन्न तीन भुवनों के स्वामी गुरुदेव महामाहेश्वराचार्य श्रीराम को (अपने ही अभिन्न स्वरूप में) प्रणाम करता हूँ।

ब्रह्मीं मूर्तिं भुवनजनने राजसीं यो बिभर्ति -
तद्रक्षायां परमदयया वैष्णवीं सात्विकींच।
तत्संहारेऽनलशततनुः तामसीं रौद्र मूर्तिः
तं श्रीरामं त्रिभुवन गुरूं स्वात्मरूपं नमामिः॥३॥

जो समर्थ शील गुरूदेव सृष्टि निर्माण (manifestation) के प्रभात-काल में अपनी स्वातंत्र्य राजसी-शक्ति से विद्यमान चराचर जगत-स्वरूप को स्वयं में प्रकट करते हैं और स्थिति-काल (maintenance) में इस समस्त सृष्टि की रक्षा के अपनी अपार अनुकंपा के फलस्वरूप एवं परोपकार के निर्मित तथा सत्वोगुण संबन्धी वैष्णव-वृत्ति के स्वरूप को धारण करते हैं। इस सृजन किए हुए और संरक्षित किए हुए (withdrawl and maintenance) इस जगत को संहार-रूपी सन्ध्याकाल में, जो स्वच्छन्दनाथ गुरूदेव भयंकर तामसी रुद्र-शक्ति (रोधनात् द्रावणात् इति रुद्रः) से, इस विकसित विश्व को अपने प्रचण्ड-अग्नि की कालाग्नि-रुद्र की ज्वालाओं में भस्म करके अपने में विलीन करते हैं। उसी, अपने से अभिन्न तीन लोकों के चेतना-स्वरूप गुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।

संसाराब्धौ विषयमकरे दुस्तरे संप्रमग्ना
उद्धृत्यास्मिन्परमकृपया भेद दृष्टिंविच्छिद्य।
शैवं स्थानमचलमलं प्रपिताः येन भक्ताः
तं श्रीरामं त्रिभुवनगुरुं स्वात्मरूपं नमामि॥४॥

जिस करूणाशील गुरूदेव ने अपार कृपालु होकर कठिनता से पार होने के योग्य संसार रूपी सागर से, क्षणिक मोह में डूबे हुए भक्तजनों को इस (भव-सागर) से उद्धार किया और उनकी अर्थात् भक्तों की भेद दृष्टि का निवारण करके अर्थात् संकोच, कृत्रिम अंहकार आदि को हटाके तथा अपने इन्ही भक्तजनों को शैवीदीक्षा का तात्त्विक ज्ञान देकर निर्मल और अटल पद पर पहुँचाया, उसी अपने से अभिन्न तथा तीन भवनों के स्वामी गुरूदेव स्वामी श्रीराम के सामने नतमस्तक होकर नमस्कार करता हूँ।

अस्मिंल्लोके ह्युपमन्टवन्वये मर्त्यावतारम् -
मायातिस्म मिमिरहरणः सज्जनानां हिताय।
प्राकाश्यार्थं स्वमतयशसः प्रेरितो रुद्रव्रातैः
तं श्रीरामं त्रिभुवन गुरु स्वात्मरूपं नमामि ॥५॥

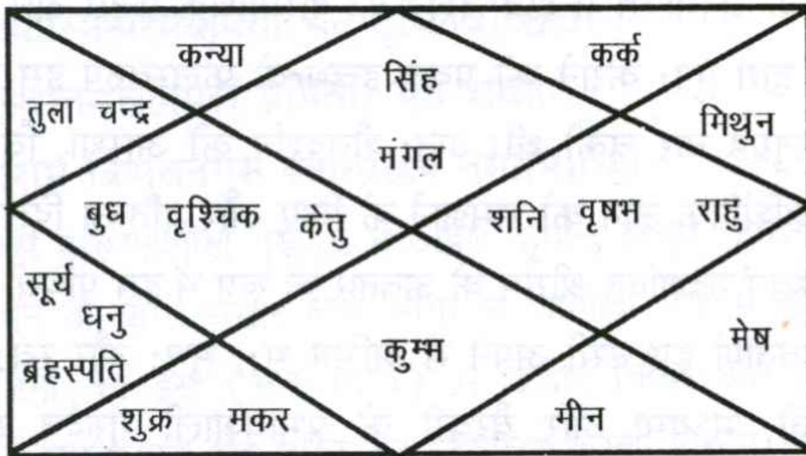
इस जगत के अज्ञान को दूर करने के लिए तथा सज्जनों के हित के लिए, जिस गुरुदेव ने अपनी स्वतंत्र और स्वछन्द इच्छा से ''उपमन्यु'' ऋषि परंपरा के गोत्र में दुर्लभ मनुष्य शरीर धारण करके जन्म गृहण किया है। यद्यपि उनका जन्म स्वयं परा-संवत्

शक्ति की अपार इच्छा थी, कारण स्पष्ट है, परा संवत्-शक्ति जगत के जनमानस में शैव-दर्शन का पारमार्थिक प्रचार और प्रसार उनके द्वारा पुनः कराने की प्रबल इच्छा के फलस्वरुप इस प्रकार का अनुग्रह कर चुकी थी। अतः शैवदर्शन की आस्था, विश्वास और दार्शिनिक ज्ञान को समझाने के लिए और प्रतिष्ठा दिलाने के लिए स्वयं रुद्रशक्ति श्रीराम के अवतार के रूप में इस पृथिवी-तत्त्व पर अवतीर्ण हुए उसी अपने से अभिन्न भूः, भुवः और स्वः और पश्यन्ती, मध्यमा और वैरवरी के प्रभावशाली गुरुदेव स्वामी श्रीराम को नमस्कार करता हूँ।

सूर्ये प्राप्ते धनुषि च गुरौ तारकेशे तुलायाम्-
आद्ये भौमे सुखगत बुधे शत्रुगे भार्गवेऽपि।
पंगुराह्वोर्दशमसदने सिंह लग्ने तु जातः
तं श्रीरामं त्रिभुवन गुरूं स्वात्मरुपं नमामि ।।६।।

उपर्युक्त श्लोक में गुरूदेव स्वामी श्री विद्याधर जी ने महामाहेश्वराचार्य स्वामी श्रीराम के जन्मचक्र का वर्णन प्रस्तुत किया है, जिसका विस्तृत उल्लेख इस प्रकार से है:- सप्तर्षि शुभ संवत् 4930 वीर विक्रमादितय राज्य संवत्, 1911 ईस्वीं संवत् 1853 दिसंबर 18 पौष कृष्ण पक्ष द्वादशी : दिसंबर 26 विशाख जन्म नक्षत्र, सोमवार (रात के समय 9 बजे से 11 बजे रात के समय तक)

जन्म चक्रम



मृर्त्या शम्भु परम सुखदस्तेजसा द्वादशात्मा,
प्रकृत्या तु शिशिरकिरणः पावनश्चित्रभानुः।
शैवी-दीक्षा गलितवृजिनै लक्ष्यतेयश्च सद्भिः
तं श्रीरामं त्रिभुवन गुरुं स्वात्मरूपं नमामि ॥७॥

जो गुरूदेव अपने अनुत्तर एवं अनुपम सौभ्य-स्वरूप के कारण कल्याण करने वाले साक्षात् शंकर के अनुरूप हैं, जो अपने वर्चस्व और तेजस्वी स्वरुप में प्रखर एवं प्रचण्ड सूर्य के अनुरूप है अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अपने वार्षिक अयन में मेष-वृषभ आदि बारह राशियों को भोग करके तीन-सौ पैसंठ दिनों का वृत्त बनाता है, उसी क्रम से श्री गुरूदेव द्वादशान्त के स्वरूप में ध्यानस्थ होकर-समाधि में संलग्र होकर रहते हैं। स्वभाव से गुरूदेव सुखद चन्द्रमा की किरणों के समान हैं और अपने भक्तों को कल्याण करने वाली किरणों से उन्हें भव-संताप का निवारण

करते हैं। उनका अस्तित्व यज्ञ-वेदी के प्रज्वलित अग्नि के समान पावन है, जिस प्रज्वलित यज्ञ-वेदी के विशुद्ध ज्वालाओं में 'देव-पितरों' का स्वाहा और स्वधः का होम हुआ करता है। ज़िस, अपने से अभिन्न, आदरणीय गुरूदेव ने शैवी-दीक्षा का बीज-मंत्र देकर सारे ही शिष्यवर्ग के ऐहिक समस्त पापों को धोकर उन्हें आत्म समावेश की अपार अनुकंपा की, उसी अपने स्वरूप में अवस्थित गुरूदेव को नमस्कार करता हूँ।

रूपं यस्य निखिल जगतां हृत्प्रमोदस्य हेतुः
यद्दन्तानां किरण पटलैश्छात्रवृन्दाः विरेजुः।
व्याख्यानेन प्रहसितमुखः कर्तनः संशयानां
तं श्रीरामं त्रिभुवन गुरुं स्वात्मरूपं नामामि॥८॥

जिस गुरूदेव का अभिन्न शिव स्वरूप स्वयं अपने में अखिल विश्व के हार्दिक उल्लास के लिए आविर्भूत हुआ है, तथा शैवशास्त्रों के अध्यापन अर्थात् पढ़ाते समय, अथवा ज्ञान प्रदान करते-समय जिनके दान्तों से छूटती अनन्त किरणों से सारा शिष्यवर्ग ज्ञान-वर्षा से भीग जाता है और सारगर्भित व्याख्यान करते समय अपनी भुवन-मोहिनी मुस्कान से गहन-गम्भीर प्रश्नों और संशयों को निवारण करने में कैंची या कतरनी के समान जागरुक रहा करते थे। उसी अपने से अभिन्न और तीन लोकों के स्वामी गुरुदेव श्रीराम को नमस्कार करता हूँ॥

बाल्यादेव परमतपसि दुःसहेवर्ततेस्म
विश्वमेतत्परम महिमा या श्चस्वात्मन्यद्राक्षीत्।
स्वात्मानं च जगति निखिले ज्ञानदृष्ट्या सदैव
तं श्रीरामं त्रिभुवन गुरुं स्वात्मरूपं नमामि॥९॥

जिस प्रज्ञा-संपन्न और युग-दृष्टा गुरुदेव ने बाल्यकाल से ही पश्यन्ती अवस्था के पद पर होने के फलस्वरूप तथा अपनी परिचित प्रत्यभिज्ञा की अनुकंपा से अपना निजी समावेश प्राप्त कर लिया था अर्थात् जिस गुरूदेव ने "अहम् इदम् और इदम्-अहं" अर्थात् मैं यह हूँ (और) यही मैं हूँ (I am that and that I am) का समावेश प्राप्त कर लिया था, इसी कारण यह समग्र विश्व उसी के अस्तित्व में अनुस्यूत होकर अपना अस्तित्व धारण करके अवस्थित रहा है, अर्थात् जो गुरुदेव "अहन्ता" अर्थात् परम शिव-स्वरूप और 'इदन्ता' अर्थात् जगत-स्वरूप इन दोनों ही अवस्थाओं में विहारशील है, उसी अपने से अभिन्न तीन भुवनों के अनुग्रह-कारक गुरुदेव स्वामी श्रीराम को प्रणाम करता हूँ अर्थात् समावेश-समाधि में विलय होता हूँ।

यः शैवाख्यं परममृतं निर्गतं स्वाननाब्जात्
तत्पादाब्जनुगतमनसो भक्तवृन्दानपीप्यत्।
एतद्देहं परित्यज्यह्ययगाच्छाश्वतं शैव धाम
तं श्रीरामं त्रिभुवनगुरूं स्वात्मरूपं नमामि॥१०॥

जिस संवित्-स्वरूप स्नेही श्रीगुरूदेव ने अपने मुखरूपी कमल

से शैवदर्शन-रूपी अमृत के प्रवचनों से सबों को अद्वैत-शैवदर्शन के प्रकाश और विमर्श से उन्हें दिव्यज्ञान प्रदान किया और उनके उन समर्पित शिष्यों ने भी मोक्षदायक गुरुदेव के कमलरूपी चरणों के ध्यान में मग्न होकर उनके उन अमृत-प्रवाही प्रवचनों और उपदेशों को घूँट-घूँट कर उस अमृत का पान करके अपने स्वरूप की आत्म प्रत्यभिज्ञा (Recognition) उपलब्ध की। अन्ततः उस अपने से अभिन्न श्री गुरुदेव ने इदन्ता रूपी (Objective - Existence) इस शरीर को अपने प्रतिहत स्वभाव के कारंण, अपने ही स्वातंत्र्य में विलय करके अहन्ता-स्वरूप (Subjective Existence) अपने अभिन्न शिव-तत्त्व पर आरोहण करके, "शिवः केवलोऽहम्" शिवः केवलोऽहम्, शिवः केवलोऽहम् की स्थिति में स्वरूप गोपन किया। उसी अपने से अभिन्न एवं तीन कालों के स्वामी, अर्थात् गत, आगत और अनागत के युग-सृष्टा, युग-दृष्टा और युग निर्माता गुरूदेव महामाहेश्वराचार्य स्वामी श्रीराम को दण्डवत् साष्टङ्ग प्रणाम करता हूँ।

व्योम नन्दनेवेदमिते (४९९०) सप्तर्षियुगे"
माघ कृष्णशिव चतुर्दश्या गुरूौ सूर्योदये।
मकरस्थाथ संक्रान्ते प्रथमे अर्कांशे सति
व्यतीत षष्टि (६०) वर्षाणि हयेषष्टितमं शुभे॥
अर्थात् सप्तष्रि संवत् ४९९०, विक्रम-संवत् १९७१, ईस्वती

संन्न १९१५, जनवरी १४ माघकृष्ण, शिव चतुर्दशी बृहस्पतिवार प्रातः, मकर-संक्रान्ति के दिन महामाहेश्वर श्रीराम पृथिवी तत्त्व से युगपत्, शिव तत्त्व पर आरोहन करके कालातीत अहन्ता में "शिवोभूत्वा शिवं यजेत्" सत्ता में लीन हो गए, उन्होनं ऐहिक लीला के साठ वर्ष संपूर्ण किए थे।

स्वामि विद्याधरेण विरचिता गुरु स्तुतिः

इयं गुरूस्ततिः (रचना काल श्रावण मास पूर्णिमा १९१६)

गुरु स्तुति

स्वात्मनिष्टं गुरु श्रेष्टं भवसागर तारकम्।
श्रीरामस्य प्रियं शिष्यं महताभमहं भजे॥१॥

श्री गुरूदेव स्वामी महताभ काक जी, ईश्वर स्वरुप राजानक स्वामी लक्ष्मणजुव के गुरुवर्य, जो अपने भक्तों पर अनुंकपा करके उन्हें इस भवसागर से पार कराने के लिए सशक्त है और जिनकी निष्टा और प्रतिष्ठा गुरूदेव महामाहेश्वराचार्य श्रीराम के प्रधान शिष्यों में सर्वप्रथम है, उन्हीं महान्प्रकाश 'पुंत्र-महताभमय' गुरूदेव को अर्थात् महान्प्रकाश रूप गुरूदेव की वन्दना करता हूँ॥

स्वात्त्मशक्ति सदापूर्ण ज्ञान प्रकाशान्वितम्।
श्रीरामस्य प्रियंशिष्यं श्रीगाशकाकमहं भजे॥२॥

सन्तशिरोमणि गाशकाक जी अपने ज्ञान-विज्ञान की समर्थशीलता में और ज्ञान की रचनात्मक प्रक्रिया में गुरूदेव स्वामी श्रीराम के शिष्यों में अग्रणीय स्थान रखते थे, इस प्रकार की कोटि के, महामाहेश्वराचार्य श्रीराम के, प्रिय शिष्य श्री गाशकाक जी की मैं वन्दना करता हूँ।

संवित्शक्तिसमापूर्ण गुरूं ज्ञान विज्ञान बोधकम्।
श्रीरामस्य स्नेहदं शुद्धं विद्याविद् विद्याधरं भजे॥३॥

गुरूदेव स्वामी विद्याधर जी संवित् भट्टारिका की अपार कृपा से आध्यात्मिक शक्तियों के चक्रवर्ती थे, संस्कृत भाषा में उन्होंने

शास्त्री की परीक्षा संपन्न की थी। इस कारण शैवदर्शन के पठन-पाठन कराते समय गुरूदेव श्रीराम को उन्हें केवल संकेत देना ही मात्र पर्याप्त रहा करता था। इस प्रकार शास्त्र-ज्ञाता, ज्योतिष-ज्ञाता, कर्मकाण्ड-ज्ञाता और आचार्य पाणिनि के अष्टाध्यायी के मर्मज्ञ विद्वान तथा स्वामी श्रीराम को स्नेह देने वाले शिष्य एवं मूर्धन्य स्वामी विद्याधर को प्रणाम करता हूँ।

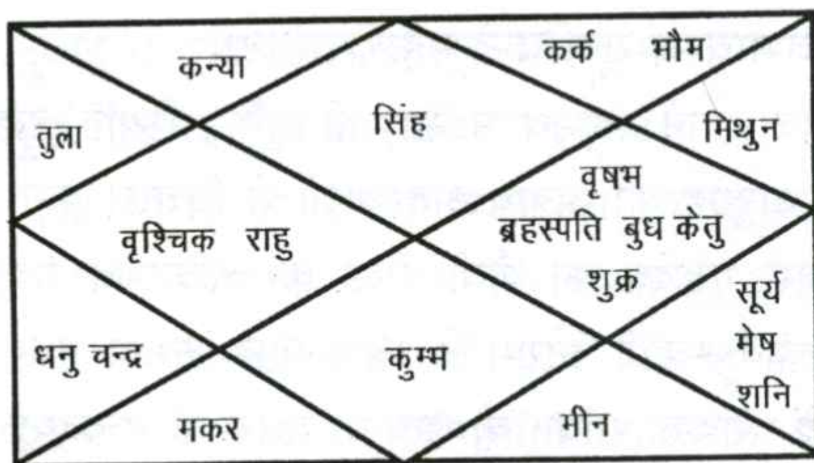
श्रीरामतपसापूतं श्री गोविदं गुरुवरोत्तमम्।
चेतसा भावयाम्यहं सदा स्वात्मन्यवस्थितम्॥

श्रीगुरुदेव स्वामी गोविन्द कौल जी का इस पृथिवी-तत्त्व पर आविर्भाव होना वास्तव में सद्गुरू महामाहेश्वराचार्य स्वामी श्रीराम की अखण्ड तपस्या का प्रत्यक्ष वरदान है, जो गुरूदेव श्रीगोविन्द जी के रूप में अवतीर्ण हुए, उसी प्रवीण और धुरीण गुरूदेव को सतत् अपनी जागरूक चेतना में मनन के अभ्यास में संलग्न हूँ।

गुरुवर स्वामी गोविन्दकौलस्य जन्म चक्रम

मेषे सूर्ये शनिग्रहसहिते अंगारक कर्कस्थःच
जीव श्क्रौकेतुबुधयुक्रौ कर्मस्थे वृष राशौ
तुर्ये राहुः पणफर चन्द्रे सिंह लग्नेतु जातः
तं श्रीगोविन्दं गुरुवर गुरुवर परं चेतसा भावयामि।।

अर्थात सप्तर्षिशुभसंवत् 4958 श्रीवर विक्रमादित्य संवत् 1939, ईस्वी 1882 मई 9 ज्येष्ट कृष्णा पंचमी, (ज्येष्टेश्वरी पंचमी) सोमवार, प्रवरसेन नगर, श्रीनागर कश्मीर भट्टारक विहार आधुनिक भटयार। इस तिथि पर गुरुदेव श्री गोविन्द कौल जी जन्म हुआ।



गुरुदेव स्वामी गोविन्द स्तुति

महामाहेश्वराचार्यभिनवगुप्त सन्तति।
परंपरागतं वन्दे त्रिकदर्शन भास्करम् ॥१॥

मैं, आगम, स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा अथवा शिव, शक्ति और

अणु (नर) के गहन रहस्यों को प्रकाश में लाने वाले अर्थात् आगम शास्त्र, स्पन्द शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के विश्वमय स्वरूप के व्याख्याता तथा विश्वोत्तीर्ण संवित स्वरूप में स्वयं ही शिव, शक्ति और नर स्वरूप में सूर्य के समान उदय होने वाले अपने चित्स्वरूप गुरूदेव की वन्दना करता हूँ। जिस गुरूदेव का आविर्भाव महान ऐश्वर्यशील अहन्ता और इदन्ता के वैभव एवं विकास से समृद्ध है तथा जो शैवदर्शन की प्रज्ञा के स्वयं शिवस्वरूप अभिनवगुप्त की परंपरा की श्रृंखला से अनुस्यूत हैं।

श्रीरामादद्दीक्षितं सम्यक् परतत्त्व दिदर्शकम्।
पंचकृत्य स्वभावस्थं गुरूं वन्दे महेश्वरम्॥२॥

जो गुरूदेव अपने स्वभाव में सदा ही सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह की अबाध अवस्थाओं से विचरण करते ही रहते है, जिस गुरूदेव को शैवी-दीक्षा का शक्तिपात सद्गुरू महामहेश्वराचार्य स्वामी श्रीराम ने स्वयं संपन्न कराया तथा जो गुरूदेव स्वयं पराहन्ता संवित् के उत्कृष्ट रहस्य के तत्त्वदष्ट्रा हैं, उसी अपने से अभिन्न गुरूदेव को प्रणाम करता हूँ।

श्रीमन्तं स्वात्मगोविन्दं जीवन्मुक्तं च चिन्मयम्।
परास्वातन्त्र्य भावस्थं गुरूं वन्दे निरामयम् ॥३॥

मैं जन्म-मरण रूपी शंका से मुक्त अर्थात् काल-क्रीडा के जनन-मरण की आशंका से शून्य, अर्थात् सर्वज्ञभाव के ऊँचे पद

पर स्वतः आसीन, तथा अपने पारमार्थिक ऐश्वर्य से युक्त और अपने ही स्वातंत्र्य से चित् आकाश की परम अवस्था में विचरणशील अर्थात "गोविन्द", चित्सूर्य में रमणशील अर्थात् घर-गृहस्थी में होने के उपरान्त भी जो अन्तः-संवत् में सदा ही चित्सूर्य के साथ लिप्त होकर रहा करते हैं। जो सदेह होकर भी विदेह स्थिति में सतत रहा करते हैं और जिनका तात्त्विक स्वरूप परासंवत् से आप्लावित होकर सदा ही बना रहता है तथा जो नित्य वैभव-संपन्न स्वातंत्र्य अवस्था में सतत रहा करते हैं, उसी भौतिक इच्छा-शून्य गुरूदेव को नमस्कार करता हूँ।

आजानुबाहुं तं वन्दे शंखग्रीवाशुकनासिकम्।
दीर्घ मुखं तडिन्नेत्रं शैव शास्त्रविशारदम्॥४॥

मैं, शैव शास्त्रों के निष्ठणा व्याख्याता स्वात्मस्वरूप गुरुदेव स्वामी गोविन्द भट्टारक को नमस्कार करता हूँ। श्री गुरुदेव के खडे होने पर जिनकी दोनों बाहें घुटनों को छू लेती हैं, जो 'लक्षणशास्त्र' के आधार पर दैवीगुणों का सूचक है और परमार्थ की व्यवस्था के आधार पर इसका निश्चित आशय ज्ञान और क्रिया की शक्तियों से है, जिनके प्रवाह से गुरुदेव अपने शिष्यों को अन्तः-बर्हिःरूप से परमार्थ में प्रोत्साहित करते हैं। सद्गुरुदेव की ग्रीवा अर्थात् शोभाशाली गर्दन शंख के समान सुढौल और सुन्दर है। शंख-ध्वनि का नाद-सौन्दर्य अन्तर के नाद को जगाता है। अतः गुरूदेव जब भी शैवशास्त्रों की व्याख्या करते हैं उनके कण्ठ से शंख-ध्वनि के अनुरूप सात-स्वरों का संगीत अनुगूँज

अपने प्रिय शिष्यों को वैखरी-वाणी से मध्यमा-वाणी की कोटि में पहुँचाता हैं। आशुतोष गुरुदेव की नाक शुक (तोते) के आकार की है अर्थात् उनकी नाक परासंवित् के उल्लास की परिपक्व रसानुभूति के सौरभ या सुगन्धि के आस्वादन करने में सदा ही मग्न रहती है, अथवा जो स्वयं वेदव्यास के पुत्र शुकदेव के समान अद्वैतवादी शैवशास्त्रों का मन्थन कराने में अद्वितीय हैं। उस, अपने से अभिन्न, गुरूदेव का मुखमण्डल प्रभावशाली आकर और प्रतिभा-सपन्न वाक्-शक्ति में अद्भुत और अद्वितीय है, जिसके फलस्वरूप वे स्वाभाविक और सहजभाव से आगमशास्त्र, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र और स्पन्दशास्त्र के सूक्ष्म-बिन्दुओं, गोपनीय-रहस्यों और अर्थदर्शी समावेश को सुझाने और समझाने में सदा प्रवीण और धुरीण रहे हैं। अनन्य स्नेही, गुरुदेव की मात्र एक दृष्टि की अनुकंपा से अज्ञान का अन्धकार उसी प्रकार तहस-नहस होता है, जिस प्रकार कड़-कड़ाती और छूटती-कौंध (बिजली) काले-घने बादलों को तहस-नहसकर एवं चीरकर प्रकाश के उजाले से प्रज्वलित करती है।

स्वप्रकाश विमर्शेन सर्वान् सर्वज्ञकारिणम्।
त्रिक दर्शन तत्त्वज्ञं गुरूं वन्दे सदाशिवम्॥५॥

मैं दिशा और काल (Time and Space) की सीमा से उल्लघिंत सदाशिव-स्वरूप गुरूदेव को प्रणाम करता हूँ, जिस गुरूदेव ने अनुकंपा करके सब ही शिष्यों को अपने अर्जित प्रकाश और विमर्श से संपन्न बनाया अर्थात् 'प्रकाश' के शक्तिपात से उन्हें

'अस्ति' का बोध कराया और 'विमर्श' के अनुग्रह से उन्हें 'भासति' का बोध कराया, अर्थात् यह सब विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण शिवमय है और यही प्रकाश और विमर्श स्वत: शक्ति-तत्त्व है, जिस के अभिन्न स्पन्द से सृजन की प्रक्रिया का समारम्भ होता है। इस प्रकार का बोध सब ही शिष्यों को युगवत् कराया और, जो युगदृष्टा गुरूदेव स्वत: शिव, शक्ति और अणु के परामर्श में सलग्न होकर इसी स्मरण, चिन्तन और मनन में तल्लीन होकर भावस्थ रहा करते हैं।

शिवागम शक्ति सपंन्न षट्त्रिंशत्तत्त्ववेदकम्।
शिवरुप समापंन्न गुरूं वन्दे शिवात्मकम् ॥६॥

मैं अपने से अभिन्न साक्षात् शिवस्वरूप गुरूदेव की वन्दना करता हूँ, जो गुरूदेव असाधारण अधिकार से संपन्न होने के कारण शैवदर्शन सम्बन्धी सब ही वाङ्मय के अर्थात् आगम-शास्त्र, प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र और स्पन्द-शास्त्र के निष्णात-व्याख्याता ओर तात्कालिक समावेश के प्रदाता हैं। वे स्वयं शक्ति-संपन्न गुरुदेव-स्वभावत: शिव-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व और पृथिवी-तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक अवरोहण और आरोहण सतत करते ही रहते हैं।

परां च पूर्णवत्पश्यन् मध्यमां वैखर्यां सरन्।
पर प्रकाशवपुषं वन्दे भट्टारकं गुरूम्।।७।।

मैं अपने से अभिन्न शिवभट्टारक, अपने अप्रतिम गुरूदेव को, जो अपने असाधारण वीरोचित कृत्य के कारण स्वतः-संपन्न गुरूदेव 'परा-वाणी' (चिद् आनन्द) के अबाध स्वातंत्र्य से पश्यती-वाणी (इच्छा शक्ति) के सर्ग में अहन्ता और इदन्ता का आपसी तालमेल बिठाकर इसके उपरान्त 'मध्यमा-वाणी' (ज्ञान-शक्ति) के सर्ग से अग्रसर होकर 'वैखरी-वाणी' (क्रिया-शक्ति) के सर्ग में प्रचार और प्रसार की स्थिति का स्वरूप अपना कर व्यवहार करते हैं। परं स्वरूप-लाभ की अनुभूति के उपलक्ष्य में मेरे अनन्य गुरूदेव सदा ही पराहन्ता के 'स्व' स्वरूप में संलग्न होकर रहते हैं।

लोकवद्व्यवहारेऽपित्रिपदाव्यभिचारिणम्।
वैतर्क्यात्मसंपन्नं वन्दे चिद् भैरवं गुरूम्।।

मैं, 'चैतन्य-आत्मा' अपने ही 'चिद्-भैरव' स्वरूप भव-तारक गुरूदेव श्री गोविन्द को प्रणाम करता हूँ। जो साधारण लोगों के समान प्रत्येक दैनिक व्यवहार करने के उपरान्त भी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अथवा सृष्टि, स्थिति और संहार के आद्य, मध्य और अन्त के तीनों पदों में अपने अहन्ता स्वरूप से किंचित भी अथवा अंशमात्र भी विचलित नहीं होते हैं। जो हितैषी गुरुदेव सतत अपने विमर्श रूप तर्क, वितर्क और स्वतर्क अर्थात् "किं, कथं और

इत्थम्'' अर्थात् 'क्या' 'कैसे' और 'इस प्रकार' के शिव स्वरूप परमार्थ का ताना-बाना बुनने में तल्लीन हुआ करते हैं।

त्रितयभोगिनं वन्दे वीरेशं नौमि सर्वगम्।
चक्रेश्वरसमाधिस्थं गुरूं वन्दे महाह्रदम्॥९॥

मैं अपने अभिन्न अपार एवं असीम चैतन्य-स्रोत रूपी (Stream of Consciousness) आराध्य गुरूदेव की वन्दना करता हूँ। जो अपार कालशक्ति के जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति को तुर्या के चमत्कार से अहर्निश भोक्ता-स्वरूप की सत्ता से आस्वादन निरन्तर करते हैं तथा, जो बहिष्करण और अन्त-करण आदि द्वादश-इन्द्रिय रूपी बारह सूर्यों की कालकलना को ग्रास करके 'वीरेश' की पदवी प्राप्त कर चुके हैं अर्थात् इन्द्रिय विजेता स्वामी बने हुए है और जो आराध्य गुरूदेव चक्रेश्वर की असीम समाधि में सतत तल्लीन हुआ करते हैं।

कृता संवित्स्वरूपेण स्तुतिर्गुरूप्रसादतः।
यस्या पठनमात्रेण शिवतुल्यो भवेन्नरः॥१०॥

संवत्-शक्ति की अपार प्रेरणा के स्वतः प्रेरित और दयालुः गुरूदेव स्वामी गोविन्द की अपार अनुकंपा के प्रसाद से मैने यह गुरू आराधना के भाव पुष्प-प्रस्तुत किए हैं, जिनके पढ़ने से भक्तजन साक्षात् शिव के अनुरूप बनते हैं।

श्री गुरुदेव स्वामिगोविन्द पादानुसेवी गंजूत्रिलोकनाथेन इयं गुरूस्तुतिः २७ जून मासे संरचिता। (१९५७ ई०)

"सारग्राही शैवमुक्ति संग्रह"

मोहशान्तो गुरूवरमुखामनायतत्त्वोपलम्भात्
मग्न चेतः समरससमा स्वादलोलं चिदब्धौ।
भाव व्रातः प्रलयमगमन्निकल्पे समाधौ
सिद्धाभासः स भवतु हि मे कोऽपि संविद्विकासः॥

"आणवमल"

करुणाशील महान् गुरूदेव के मुख से वास्तविक परमार्थ का समावेश गृहण करने के पश्चात् तुरन्त सीमा की लघुता और इससे जुडे हुए मोह, अन्धकार और अज्ञान के झंझा-तूफान आदि शान्त हो गए। इस उपलब्धि के फलस्वरूप "आणव-मल" अर्थात् संकोचित पार्थिव-शरीर को ही सर्वस्व मान कर और इसी की लघुता के बन्धन में आबद्ध होना ही 'आणव-मल' कहलाता है।

"मायामल"

नाना प्रकार के रसों के प्रति प्रलोभी बना हुआ यह चित्त, चेतना के सागर (stream of consciounsous) की समरसता में संपूर्ण रूप से आप्लावित अर्थात् डूबकर मायामल से मुक्त हुआ। 'मायामल' की सामान्य स्थिति यह है कि अपना स्वरूप भी भेद की स्थिति में आकर अपने से अलग-थलग दिखाई देता है और यह जगत भी अपने से भिन्न दिखाई देता है।

'कार्ममल'

अब तो संकल्प, विकल्प और निश्चय के उलघंन होने के उपरान्त निर्विकल्प समाधि की स्थिति का समावेश उपलब्ध हुआ है, इस वेला पर समस्त 'भाव-व्रात' अर्थात् संपूर्ण प्रमेय-राशि, अर्थात् संपूर्ण विषयगत विश्व (Entire Objective Universe) पूर्णत: विलीन हो चुका है। अत: इस अनुकंपा की प्रशस्त-वेला पर कार्ममल से मुक्ति प्राप्त हुई और अब की स्थिति कर्मातीत (Actionless) बन गई है। 'कार्ममल' की परिभाषा इस प्रकार से है - "यह करना चाहिए यह नहीं करना चाहिए" इस प्रकार विधि-निषेध का निरन्तर चलता द्वन्द्व ही कार्ममल है।

इस प्रकार की सिद्धावस्था का बोध संवित् विकास के फलस्वरूप मुझे अनायास उपलब्ध हुआ अर्थात् शक्तिपात के फलस्वरूप ही प्राप्त हुआ।

सान्द्रोद्रेकक्षुभितमभित: स्वान्तमन्तर्नियम्य
प्रायो धत्ते नवनवरसोल्लेखमानन्द कन्दम्।
भूयो भूय: प्रलयविभवोद्दामदु:खान्तरायो
योऽसावन्तर्जयतिहृदये कोऽपि संविद्विकास:।।२।।

इस अनिवर्चनीय और अलौकिक संवित् शक्ति का विकास स्वत: अपने वास्तविक अन्त: स्थिति में सदा ही जयशाली हो, जिसके फलस्वरूप बार-बार सृजन तथा संहरण की उद्दाम लीला के कारण जनन-मरण रूपी अनिवार्य विघ्नों और अन्तरायों का उभर आना इस जगत के लिए अवश्यंभावी बनता है, जो संवित्

भट्टारिका आनन्द के घनत्व होने पर अथवा आनन्द के अतिशय-प्रवाह के होने पर बाह्य-उन्मेष, अर्थात् सृजन को पुनः स्वात्म अनुग्रह से विलय करना चाहती है। इस प्रकार अपने से अभिन्न यह परासंवित् बाह्य-उन्मेष, अर्थात् सृष्टि, और अन्तः-निमेष अर्थात् संहार के क्षण-क्षण परिवर्तनशील क्रीडा से अपने ही अभिन्न आनन्दकला के साथ सतत् नित्य-नवीन रसों का उल्लेख करती ही रहती है। इस प्रकार का अलौकिक संवित् विकास मेरे चिन्तन-मनन में सतत रमता रहे।

चैतन्याब्धेः प्रसरदमृतं त्रोटितायासतन्त्रं ,
सर्वस्यान्तः स्फरदपिमहामुद्रया-मुद्रितं यत्।
पूर्णानन्द प्रदमति तरामेतदुन्मुध्रयुक्त्या
योऽन्तवक्त्रो रसयति जयत्येषवीरः कुलेन्द्रः ॥

यह अनुत्तर कुलेन्द्र, अर्थात् परासंवत् भट्टारिका के स्वामी शिव स्वयं ही अपनी स्वछन्द इच्छाशक्ति के उन्मेष से अपने प्रशान्त चैतन्य-सागर (stream of consciousness) के अमृत (अनश्वर) तंत्र को, अर्थात् अपने अभेद-स्वरूप की अनश्वरता में अवस्थित इस अमर-तंत्र को, अर्थात् स्वयं अपने उन्मेष के अपार आनन्द के कारण ही, अर्थात् स्वछन्द इच्छाशक्ति के प्रबल आनन्द के उद्रेक से, अपने अन्तस्थ में ठहरे हुए अभेद-तंत्र को भेद-प्रथा से तोड़कर, अर्थात् भंग करके, जगत् की ओर उन्मुख होकर अनन्त प्रमेय-जगतों (Infinite objective universes) का

सृजन करके उसी बाह्य-प्रसारित विश्व की मुद्रा में स्वतः अवस्थित होकर अणु-अणु और कण्-कण् में परिव्याप्त होकर आश्रय करते हैं। यद्यपि शिव अपने चिदानन्द स्वरूप में सर्वतः, सर्वथः और सर्वदा अनुस्यूत होकर अविभाज्य रूप से रहते हैं, परं फिर भी अपनी संवित्-शक्ति के अपार आनन्द के फलस्वरूप शिव विश्वमय उन्मेष के प्रति जागरूक होकर रहते हैं। ऐसा ही यह कुलेन्द्र शिव वीरता से स्वयं सब में परिव्याप्त होकर विजयशाली रस का आस्वादन स्वयं ही सदा आद्योपान्त रूप से करते ही रहते हैं।

"शाक्त-मन्थन"

तव च का किल न स्तुतिरम्बिके
सकल शब्दमयी किल ते तनुः।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो
मनसिजासु बहिः प्रसरासु च।
इति विचिन्त्य शिवे! शमिताशिवे
जगति जातमयत्नावशादिदम्।
स्तुति जपार्चन चिन्तनवर्जिता
न खलु काचनकालकलास्ति मे।।

हे वाङ्मय की देवी! निश्चय करके, व्यावहारिक या पारमार्थिक व्यवस्था में, वह कौन सी, अस्तुति, चर्चा, प्रवचन, संवाद और वार्ता है, जिस अस्तुति, चर्चा, प्रवचन, संवाद और वार्ता में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से तुम्हारा स्वरूप और तुम्हारा व्यापक अस्तित्व अभिव्यक्त होकर उभर नहीं आता है। समस्त विश्व का मानसिक, अभिभाषित एवं मौखिक भाषात्मक-स्वरूप तुम्हारा ही अपना अविभाज्य स्वरूप है, अत: कोई भी वर्ण, शब्द, वाक्य, महावाक्य, वाङ्मय और ज्ञान-विज्ञान ऐसा नहीं है जिस में तुम्हारा स्वरूप, तुम्हारी वाक्शक्ति और चिन्तन-शक्ति साकार और सार्थक रूप में उभरकर नहीं आती है अर्थात् हर एक

अन्तः-बाह्य, अव्यक्त एंव व्यक्त और मानसिक एवं मौखिक चिन्तन में तुम्हारा ही अस्तित्व कूट-कूट के अनुस्यूत होकर ठहरा हुआ है। इस विश्व की व्यापक सत्ता में तुम्हारा ही प्रसार-प्रचार और विस्तार विद्यमान है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में तुम्हारा ही संलाप और अभिसार है। (शब्द ब्रह्म) अर्थात शब्द ही वस्तुतः ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। यही कारण है भारतीय मनीषा में तुम शब्द ध्वनि की जननी हो। इस सार्थक उक्ति को जतलाकर यथार्थ में वाग्देवी के व्यापक प्रभुविष्णुता के स्वरूप को स्पष्ट किया है।

हे कल्याण दात्री! निश्चय रूप से तुम जगदम्बा हो। यही कारण है तुम अपनी सन्तति के सारे ही भव-बाधाओं को हटाकर उन्हें कल्याण सर्वदा करती ही रही हो। हे वाग्देवी! तुम्हारे इस पराहन्ता स्वरूप के स्वातंत्र्य का चिन्तन करने के उपरान्त अर्थात् संवित्-स्वरूप के साक्षात्मकार करने के उपरान्त, इस जगत में परिश्रम, प्रयत्न और आयास किए बिना ही मुझ "अभिनवगुप्त" को तुम्हारी 'अनुग्रह-शक्ति' का समावेश सहज रूप में उपलब्ध हुआ। अब निस्सन्देह, मेरी विमर्श-शक्ति की काल-कलना में ऐसा कोई भी क्षण शेष नहीं बच पाया है जिस कला और विकला की बेला में, मैं तुम्हारा जप, अर्चन, पूजन, स्तवन एवं स्मरण, चिन्तन और मनन नहीं करता हूँ। अर्थात् अब तो ऐसा कोई भी क्षण शेष नहीं रह पाया है जिस क्षण में, मैं तुम्हारे तल्लीन भाव में भावस्थ होकर नहीं रहता हूँ।

चिदानन्दाम्भोब्धेरुदयति पराकामलहरी
प्रसूते भावौघं धरति हरति मातृवपुषा।
प्रयातादेवक्यां निजजनरतं पातुमहर्निशम्
महाशक्तिः सैषा जगति जयतात्कृष्ण वपुषा।।

(गुरूदेव स्वामी श्रीराम की निजी अभिव्यक्ति)

(श्री कृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर (1901)

चित्-रूपी स्वच्छन्द एवं आनन्द के सागर से अलौकिक इच्छारूपी लहर स्वतः ही उभर कर उठ खड़ी आई और इसी इच्छा-लहर से प्रभूत पदार्थ-राशि का प्रसार मातृ-स्वरूप से सृष्टि और संहार की प्रक्रिया के रूप में विकसित होकर अस्तित्व में आया। यही अबाध एवं स्वच्छन्द इच्छा-रुपी लहर मां देवकी के गर्भरूपी तट से जाकर टकराई और यही महाशक्ति करुणाशील और परित्राण करने वाली माँ अपने भक्तजनों को रात-दिन सृजन और संरक्षण के लिए भगवान श्री कृष्ण के अवतार के रूप में स्वतः अवतीर्ण होकर इस जगत में प्रकट हुई।

"भद्रकाली के स्वरुप में पच्चकृत्य"

सृष्टौ संस्थापनाय त्वपहरणविधौ मोहनेऽनुग्रहेऽपि
सर्वेषामर्गलानां निजमहिमवशादक्रमेणैवयालम्।
नित्यंक्रीडा प्रसक्ता रचयति सकलं स्वात्मशक्तयाप्रपञ्चम्।
सा नस्त्राणाय भूयादभिमत फलदाभद्रकाली च कालीम्॥

अपने से अभिन्न सेंवित्स्वरूपा भद्रकाली, अर्थात् जो भेदन (सृष्टि) और द्रावण (संहार) की अपार शक्ति से, स्वयं सृष्टि, स्थिति ंहार, विलय एवं अनुग्रह की इन पाँच शक्तियों से सक्षम होकर अपने असीम महिमा और उत्कर्ष के फलस्वरूप उन्मेष और निमेष की अवस्थाओं को कभी क्रम से, कभी अक्रम से और कभी क्रमाक्रम से संपन्न करती है।

जो भद्रकाली "शक्ति-तत्व" से लेकर 'पृथिवी-तत्त्व' तक सब ही अर्गलों और साँकलों को खोलने और अपने में समाने की शक्ति से सशक्त और समर्थ है। यह परासंवत् भद्रकाली की निजी स्वातंत्र एंव स्वच्छन्द-क्रीडा का अबाध और अप्रतिहत स्वभाव है, अर्थात् "सृष्टि और संहार" तथा "संहार और सृष्टि" का यह व्यापक-चक्र जो प्रतिक्षण-प्रतिपल, केवल घूमता ही रहता है और इस सृजन और विलय के विकास में, माँ भद्रकाली की अबाध और अप्रतिहत इच्छा-शक्ति प्रेरक और कारक होकर रहती है, वही अपने से अभिन्न भद्रकाली भगवती हम सब को पृथिवी-ग्रह के सब ही मानव-समुदाय को आकांक्षित और अभिलाषित वरदान देकर इनकी रक्षा करे अर्थात सुखद और संपन्न वरदान देकर इन सब का संरक्षण करे।

"महात्मा ताराचन्द्र स्तुति"

ताराचन्द्रः सुविख्यातः प्रेरतो रुद्रशक्तिभिः
जगाम सदगुरूं शान्तं गोविन्दं शिवरूपिणम्॥१॥

महात्मा श्री ताराचन्द्र अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा और आध्यात्मिक-संपन्नता में एक अपना महत्व रखते थे और शैवदर्शन के अध्ययन और शैवी-दीक्षा के निमित्त उन्हें गुरूदेव स्वामी गोविन्द जी शरण और परित्राण में आकर इसका अध्ययन और आत्म परिज्ञान का अभ्यास किया।

श्री गोविन्द कृपया पूत श्रीचद्राम्रायविश्रुतम्।
गुरूं चित्तारकं वन्दे तन्त्रागममहार्णवम्॥२॥

गुरूदेव स्वामी गोविन्द जी की अनुकंपा के फलस्वरूप श्रीमहात्मा ताराचन्द्र का तन और मन और अन्तः बर्हि स्वरूप गुरूदेव गोविन्द की कृपा की चरण धूलि से पवित्र एवं पावन हुआ, उसी चेतना के स्रोत तंत्र एवं आगम शास्त्रों के महासागर का मन्थन करने वाले वाले गुरूदेव ताराचन्द्र को प्रणाम करता हूँ।

उच्चग्रीवं प्रशान्तं च पद्मपत्राक्षि शेभितम्।
हरासन प्रभा पूर्णं वन्दे चित्तारकं गुरूम्॥३॥

गुरूदेव ताराचन्द्र की ग्रीवा (गर्दन) सुढौल और उन्नत होकर उभर कर आई थी, उनका मुख बहुत ही सौम्य और शान्त था,

उनके नयन (आँखें) कमल की पाँखुरी के समान सुन्दर और सुखद थे और उनके शरीर का वर्ण भगवान शिव के वाहन नन्दिकेश्वर के समान श्वेत और उज्वल था, इस स्थूल धारी और संवित्-शक्ति के कृपापात्र गुरूदेव ताराचन्द्र को नमस्कार करता हूँ।

मातृका चक्रतत्त्वज्ञं चद्रमण्डलसन्निभम्।
गुरूं तुलसीश्वरं वन्दे सकल जनहितप्रदम्।।४।।

सत्ताईस नक्षत्रों में विचरण करने वाले चन्द्रमा के समान उनका प्रसार और विस्तार था और परा मातृका-चक्र के रहस्य की गंभीरता के वे ज्ञाता थे। ज्ञान विज्ञान का विश्लेषण करनेवाली स्वार्गीया तुलसी उनकी अर्धाङ्गिणी थी, उसी तुलसीश्वर गुरू को जो सबों का ही हितकर ढूँढने में संलग्न रहा करते थे (उसी) अपने से अभिन्न गुरूदेव को नमस्कार करता हूँ।

गम्फितानि स्तुति कुसमानि मया संविदनुग्रहात्।
येषां चिन्तनमात्रेण साक्षात् शिवतुल्योभवेन्नरः।।५।।

संवित् भट्टारिका के अनुग्रह से मैने स्तुति रूपी-फूलों की माला को पिरोदिया जिसके चिन्तन-मनन से भक्तजन शिव के अनुरूप बनने की क्षमता प्राप्त करते हैं।

नन्दन्तु साधकाः सर्वे विनश्यन्तु विदूषकाः।
अवस्था शाम्भवी मेऽस्तु प्रसन्नोऽस्तु गुरू सदा।।

सब ही सज्जन, भक्तिजन और अच्छे लोगों का कल्याण हो और वे हर्ष-उल्लास में अपना समय बितायें और सदा आनन्द में बिताए और निन्दक लोग अपने कुटिल विचारों और व्यवहार से पीछे हटकर सन्मार्ग पर लौट आएं और मुझे 'शाम्भवी' अवस्था अर्थात् अकस्मात् कभी कोई भाग्यशील शिष्य, चिन्तनहीन स्थिति की अवस्था में, अनायास गुरूदेव के द्वारा प्रतिबोधित की अनुकंपा को सहसा प्राप्त कर चुका हो, जो स्थिति या समावेश उस समय प्राप्त हुआ हो, वह स्थिति शाम्भवी-स्थिति कहलाती है। इस प्रकार 'विज्ञान-भैरव' तंत्र की मान्यता है।

राज स्वस्ति प्रजास्वस्ति देश स्वस्ति तथैव च।
यजमान गृहे स्वस्ति स्वस्ति गो ब्राह्मणेषु च।।

राजा और प्रजा का कल्याण हो देश सुख शान्ति और समृद्धि में रहे, यज्ञ करने वाले यजमान और उसके परिवार का भी कल्याण हो और दूध देनेवाली कामधेनु और ज्ञान-विज्ञान की संस्कृति के मुखर ब्राह्मणों का भी कल्याण हो।

नमामि यामिनीनाथ लेखालंकृतकुन्तलाम्।
भवानीं भवसन्तापनिर्वापण सुधानदीम्।।

मैं, प्रवाहित अमृतनदी के समान अर्थात् शक्ति-स्फार के

प्रवाह के समान संवित भट्टारिका भगवती को नमस्कार करता हूँ। जो अमृत धारण करने वाले चन्द्रमा की सोलह कलाओं से अपने काले केशों का सिंगार करती है। चन्द्रमा की उन शुक्लपक्ष को सोलह कलाओं में अमृत का प्रवाह ओतप्रोत होकर होता है। शुक्लपक्ष की इन्हीं कलाओं से जगदम्बा कृष्णपक्ष रूपी कष्ट को दूर करके कल्याण करती है। (दुःख का रंग काला होता है और सुख का रंग गोरा होता है।)

"विश्वमेध यज्ञ का आत्म स्वरूप"

सर्वभावमय भाव मण्डलम्,
विश्वशक्तिमय शक्तिबर्हिषि ।
जह्वतो ममसमोस्ति कोऽपरो,
विश्वमेधमयज्ञयाजिनः॥

("शैवचार्य उत्पलदेव"
प्रत्यभिज्ञा वाद का संस्थापक)

समस्त विश्व का वस्तु-परक अस्तित्व (Objective - Existance) अब मेरे ही आत्म-परक अस्तित्व (Objective - Existance) के अहं-परामर्श में संपूर्णतः विलीन हो चुका है, इस कारण विश्वशक्ति की कालाग्नि रूद्रशक्ति मुझ से अभिन्न होकर, अब मेरी ही कालाग्नि-यज्ञ में स्वतः स्वाहा और स्वधा, अर्थात् विश्वमय एवं विश्वोत्तीर्ण, का अहंपरामर्श विश्वयज्ञ का निरन्तर और अविराम अनुष्ठान कर रहा हूँ। अतः इस अपूर्व एवं अद्वितीय तथा लोकोत्तर अनुग्रह को प्राप्त करने के उपरान्त कोई भी याज्ञिक या याजक मेरी समान तुलना, इस सृष्टि में करने में असमर्थ है। अतः इस अनुत्तर अनुकंपा का समावेश होने के उपरान्त, मैं, स्वतः अपने वास्तविक स्वरूप-सत्ता की समरसता में स्वय 'होत्रम्' (हवन-सामग्री) अर्थात् "शरीरं हवि" अर्थात् शरीर स्वतः हवन सामग्री है और आगे की और अग्रसर होकर, अर्थात् "विश्वं हवि" अर्थात् यह समस्त विश्व-स्वयं हवन सामग्री है। इस

व्यवस्था से स्वयं "होत्री" (यज्ञ करने वाला, याज्ञिक या यजमान) बनकर अर्थात् स्वात्म को स्वात्म में एक अभिन्न सामञ्जस्य बिठाकर और इस विश्वमेध का एक असाधारण और अपूर्व यजमान बनकर स्वयं अपना यज्ञ, स्वयं अपनी ही यज्ञवेदी में स्वयं अपने संपूर्ण अस्तित्व को स्वाहा के उच्चारण से स्वयं आहुति होकर अर्पण हो रहा हूँ। अतः मेरे समान और कौन भाग्यशाली इस जगत में है, अर्थात् कोई भी नहीं।

शिवस्तोत्रावली का उन्मेष

महामहेश्वराचार्य उत्पलदेव, कश्मीर-मण्डल में ईस्वा की नवीं शती के एक असाधारण तथा अद्वितीय कोटि के शैवाचार्य हुए हैं। शैवदर्शन के वाङमय में इन्हें महान् गौरव के साथ प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अन्वेषक, प्रस्थापक एवं तत्त्ववेत्ता-दार्शिनिक के रूप में एक असाधारण सम्मान प्राप्त है। इनके "प्रत्यभिज्ञा-कारिका स्त्रोत" का उन्मेष विश्वदर्शन में एक कालातीत और द्वन्द्वातीत प्रथम और अन्तिम योगदान है, जो अब भी अध्यात्म-दर्शन में, न केवल भारत का, अपितु विश्व का मार्गदर्शन कर रहा है और जब विश्व के धार्मिक-अनुष्ठान बौद्धिक कसौटी पर परखने के उपरान्त अधूरे सिद्ध हो पाएगें, तो निस्सन्देह आचार्य उत्पलदेव जी का "प्रत्यभिज्ञा-दर्शन" (Philosophy of Recognition) त्रस्त और मार्ग-भ्रष्ट विश्वमानव के परित्राण के लिए आने वाले भविष्य में वरदान सिद्ध होंगे। परं "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" के इस विशिष्ट और अद्‌भुत योगदान के उपरान्त भी आचार्य उत्पलदेव जी की प्रशस्ति तथा प्रसिद्धि और उनका अविस्मरणीय-सृजन उनके "शिवस्तोत्रावली" की भक्तिरस से विभोर रचना के फलस्वरूप अधिक स्वीकारा गया है। इस कथन में दो मत नहीं हो सकते हैं। शिवस्तोत्रावली की रचना के सृजन में आचार्य जी ने "मसि-कागद" नहीं छुआ है अर्थात् स्याही और कागज़ को ज़रा भी छुआ नहीं है। अतः लिखने का सवाल ही नहीं उभर आता है ? वास्तव में, वस्तुस्थिति इस प्रकार से है जब भी आचार्य उत्पलदेव जी अपनी

निर्विकल्प समाधि से ऐहिक-जगत में लौट आया करते थे, स्पष्ट है विविधता, और भेद-प्रथा (Dualism) पुनः सामने आती थी और शैवयोगी आचार्य उत्पलदेव जी को यह सब अखरता था। ऐसी भेद-परक (Dual Situation) भावस्थिति के समय वे प्रायः व्युत्थान-विलाप' (Lamentation after the State of Trance) किया करते थे। कश्मीरी भाषा में इस स्थिति को "व्योत्थानॅक्य-भारव" अर्थात् "व्युत्थान-भय-रव" अर्थात् समाधि से लौट आने के उपरान्त भेद अथवा द्वैत के कारण एक प्रकार भय की पुकार आदि। इस भेदमय परिवेश की स्थिति में आचार्य उत्पलदेव जी, जो भी अपने भावों और अभिव्यक्ति के विलाप-प्रलाप किया करते थे, उनके पास सेवा-टहल में बैठे हुए शिष्य उनके प्रवाहित हो रहे उस असाधारण संलाप एवं आत्मसंवाद को लिपिबद्ध किया करते थे। इन प्रमुख शिष्यों के नाम आचार्य क्षेमराज ने "श्री शिवस्तोत्रावली" टीका में उद्धृत किया है। इन शिष्यों में श्रीराम, आदित्यराज और विश्वावर्त्त प्रमुख रहे हैं। जिन्होंने आचार्य उत्पलदेव जी के इन भक्ति-रस से भीगे उद्गारों का संकलन कर पाया है। 'शिवस्तोत्रावली में स्तोत्र-संख्या बीस है जिन में श्लोकों की संख्या चार सौ, सैंतालीस है और "संग्रहस्तोत्र" इन में अधिक से अधिक रस-पान करने की हार्दिक अभिलाषा करते हैं। आचार्य उत्पलदेव जी के शब्दों में :-

"आत्मा मम भवद्भक्ति, सुधापान युवाऽपिसन्" (2/1)

अर्थात् हे विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण शिव! मेरी आत्मा तुम्हारी अभिन्नभक्ति के अमृत-रस के सतत पान में निमग्न होकर एक कालजयी, एक युवक के अनुरूप, एक ही अचल स्थिति और अटल स्थैर्य में अवस्थित होकर भी.........।।

जयन्ति भक्तिपीयूषरसासववरोन्मदाः

अर्थात् वे भक्त कितने भाग्यशाली और सौभाग्य से संपन्न हैं, जो आपके भक्ति के अमृत रूप मादक-सुरा का पान करने के उपरान्त भक्ति के उन्माद में खोकर, उसी भक्ति की योगनिद्रा में सदा एवं सर्वदा के लिए जागरूक होकर सो जाते हैं। अन्तत: यह कहना सार्थक बनता है कि "शिवस्तोत्रावली" अद्वैत एवं अभेद भक्ति की एक लोकोत्तर अभिव्यक्ति है जो अपने में अनन्य और एकाङ्की है।

"संग्रह स्तोत्र"

संग्रहेण सुखदुःख लक्षणं
मां प्रति स्थितमिदं श्रृणु प्रभो।
सौख्यमेष भवता समागमः
स्वामिना विरह एव दुःखिता॥१॥

हे प्रभु! संक्षेप से आप मेरे सुख और दुःख की कथा-व्यथा सुनिए! जब मैं चिद् स्वरूप के समावेश के साथ तल्लीन बनकर तन्मय हुआ करता हूँ तो यह मेरे अपार आनन्द की सुखद वेला हुआ करती है, और जब तल्लीन होकर तन्मय नहीं होता हूँ तो यह वियोग की अवस्था दुःखद होकर कष्ट कारक बनती है, बस मेरे लिए सुख और दुःख की मात्र यही परिभाषा है।

अन्तरप्यति तरामणीयसी
या त्वदप्रथनकालि कास्ति मे।
तामपीश परिमृज्य सर्वतः
स्वं स्वरूपम् अमलं प्रकाशय॥२॥

हे कल्याणकारक! आप के अभिन्न चिन्मय स्वरूप को गोपन अथवा छिपाने वाली अज्ञान रूपी मलिनता का कालापन, माना मात्रा में कम है, अर्थात् नगण्य है, फिर भी जो भी आंशिक मलिनता आप के समावेश की अभिन्न वेला के समय बाधक बनकर उभर आती है, हे प्रभु! अनुकंपा करके उस नगण्य

मलिनता का निवारण करके, अपना अमल और निर्मल चिन्मय स्वरूप प्रकट कीजिए।

तावके वपुषि विश्वनिर्भरे
चित्सुधारसमये निरत्यये।
तिष्टतः सततमर्चतः प्रभुं
जीवितं मृतमथान्यदस्तुमे॥३॥

हे प्रभु! मेरी प्रबल आकांक्षा यह है, कि मैं आपके अमर, इस विश्व संलग्नता से पूर्ण चिदानन्द रूपी, अमृत रस के स्वरूप में तल्लीन होकर सतत, अपने से अभिन्न, प्रभु पूजा में संलग्न होकर बना रहूँ। फिर भले ही मैं जीवित रहूँ, मर जाऊँ अथवा मोक्षधाम का अधिकारी बनूँ। इन सब के प्रति मेरी ज़रा भी अपेक्षा शेष नहीं है।

ईश्वरोऽहमहमेव रूपवान्
पण्डितोऽस्मि सुभगोऽस्मि कोऽपरः।
मत्समोऽस्ति जगतीति शोभते
मानिता त्वदनुरागिणः परम्॥४॥

हे शंकर! मैंने अभिन्न-भाव से अपने अहं और अस्मिता को आपके अपार आनन्द के अनुराग के समावेश में पूर्णतः समा लिया है, और अब मेरी वैयक्तिकता आपकी ही अनन्य आत्मपरकता है, इस कारण, अब मैं, अकृत्रिम अहं में यथार्थ रूप से ईश्वर हूँ,

रूपवान हूँ, पण्डित हूँ, सौभाग्य संपन्न हूँ और अनन्य हूँ। अब तो इस जगत में, मेरे समान कोई भी दूसरा नहीं है, निश्चय अब मैं ही मात्र हूँ।

देव देव भदद्वयामृता-
ख्याति संहरण लब्धजन्मना।
तद्यथास्थित पदार्थ संविदा
मां कुरूष्व चरणार्चनो चितम्॥५॥

हे देवाधिदेव शिव! आपके चिदानन्द-रूपी अभेद-अमृत के प्रति, जो एक अख्याति अर्थात् अज्ञान समाया हुआ था, उस अज्ञान के छँट जाने पर, अर्थात् उस अज्ञान के मिट जाने पर, अब अभेद-स्वरूप की अनुभूति ने जन्म प्राप्त कर लिया है। अब आप अनुकंपा करके मुझे, पदार्थ की जो सही एवं स्वाभाविक यथास्थिति है अर्थात् अभेदता का अस्तित्व है, उस अभेद और वास्तविक ज्ञान से मुझे संपन्न करके, मुझे अपने चरण-कमल अर्थात् ज्ञान और क्रिया की पूजा अर्चना का सौभाग्य प्रदान कीजिए।

ध्यायते तदनु दृश्यते ततः
स्पृश्यते च परमेश्वरः स्वयम्।
यत्र पूजनमहोत्सवः स मे
सर्वदास्तु भवतोऽनुभावतः॥६॥

हे प्रभु! जिस असाधारण महान् पूजा के उत्सव पर उच्चारण

किए बिना ही सहज अवस्था के फलस्वरूप ध्यान उभर आया हो, ध्यान के साथ-साथ ही साक्षात्कार की अनुभूति भी उपलब्ध हुई हो और साक्षात्कार की अनुभूति के साथ ही सहसा संस्पर्श का समावेश प्राप्त हुआ हो, अभिव्यक्ति का आशय यह है कि ध्यान, साक्षात्कार, और संस्पर्श इन तीन असाधारण अवस्थाओं का समावेश क्रमशः किन्तु सहसा उपलब्ध हो चुका हो, अर्थात् इस सहज-पूजा का तारतम्य और अनुकंपा सतत स्वरूप बना रहे।

यद्यथास्थितपदार्थ दर्शनं
युष्मदर्चन महोत्सवश्च यः।
युग्ममेतदितरेत्तराश्रयं
भक्ति शालिषु सदा विजृम्भते।।७।।

हे शक्तिमान! आपके स्वाभाविक चिद्रूप में, इस बाह्य-विश्व के समस्त पदार्थराशि का अस्तित्व, स्वतः ही विद्यमान है और भेद-विहीन आपकी पूजा का जो यह महान् उत्सव है, ये दोनों ही तथ्य एक दूसरे पर निर्भर होकर अपना अस्तित्व बना कर रहते है, अर्थात् पदार्थ-ज्ञान के साथ ही साथ स्वात्म-स्वरूप के लाभ का महोत्सव शालीन भक्तिजनों को युगपत् (तात्क्षण) उपलब्ध होता है, अर्थात् उन्हे अहन्ता और इदन्ता का स्वात्म-साक्षात्कार एक साथ उपलब्ध होता हैं।

तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततम्
युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरिते -
ष्वापिवन्नपि भवेयमुन्मदः

हे प्रभु! मेरी यह प्रबल लालसा है कि ऊपर तक भरे हुए और बुद-बुदाते इन समस्त पदार्थ रूपी चषकों (शराब पीने का पात्र) में समस्त इन्द्रियरूपी मुखों से आपके स्वरूप के समावेश-रूपी पूजा के रसायन-रूपी सुरा (शराब, अर्थात् भक्ति-उन्मत्ता की मदिरा) को निरन्तर पूर्णरूप से पीता हुआ, मैं, इसी भक्ति के उन्माद में आनन्दमग्न होकर बना ही रहूँ।

अन्यवेद्यमणुमात्रमस्ति न
स्व प्रकाशमखिलं विजृम्भते।
यत्र नाथ भवतः पुरे स्थितिं
तत्र मे कुरू सदा तवार्चितुः॥९॥

हे स्वामी! जिस अपने से अभिन्न अलौकिक चिद् एवं आनन्द नगर में आपके बिना जानने के योग्य अन्य कोई भी वस्तु अथवा तथ्य वास्तव में किंच्चिद् भी शेष नहीं है और यह समस्त विश्व अपने ही अपार प्रकाश में प्रकाशित होकर अपना अस्तित्व अपना चुका है अर्थात् ग्राह्य रूप ये समस्त जगत स्वप्रकाश रूप होकर ही विकसित होता है। हे अनाथों के नाथ! उसी अनुपम एवं अद्वितीय चिद् एवं आनन्द रूपी नगर में आप अपनी अभिन्न पूजा का अचल स्थान देकर मुझ पर अनुकंपा कीजिए।

दासधाम्नि विनियोजितोऽप्यहं
स्वेच्छयैव परमेश्वर त्वया।
दर्शनेन न किमस्मि पात्रितः
पादसंवहन कर्मणापि वा॥१०॥

हे सर्वेश्वर्यसंपन्न प्रभो! आपने अपनी अबोध इच्छा के फलस्वरूप ही स्वयं मुझे दास (सेवक) पद पर नियुक्त किया है। अब मुझे दास होने के नाते आपने अपने दर्शन और ज्ञान-क्रिया रूप अपने ही चरण कमलों को दबाने एवं मलने अर्थात् विमर्श और चिन्तन से क्यों नहीं कृतार्थ करते हो, क्योंकि दास पद पर नियुक्त होने पर इस प्रकार की दासवृत्ति का कर्तव्य निभाना दास का परम धर्म बनता है।

शक्तिपात समये विचारणं
प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः
स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे॥११॥

हे स्वच्छन्द प्रभु! मुझ भक्त पर शक्तिपात (अनुग्रह अथवा प्रसाद) करते समय आप को इतना तो विचार अवश्य करना चाहिए था कि क्या यथार्थ में, "मैं शक्तिपात (अनुग्रह) के अनुकूल योग्यता की सार्थकता रखता भी हूँ अथवा नहीं"। क्योंकि इस प्रकार का कार्यक्षेत्र आप का अपना था। किन्तु हे प्रभु! आपने कभी भी ऐसी कार्य योजना नहीं अपनाई और अब,

मैं पड़ा-पड़ा मात्र आपकी राह देख रहा हूँ। हे प्रभु! क्योंकर आप अपने स्वप्रकाश की अनुग्रहकारिणी दीप्ति दिखाने में विलम्ब (देरी) कर रहे हैं।

तत्र तत्र विषये बहिर्विभा
त्यन्तरे च परमेश्वरीयुतम्
त्वां जगत्त्रियनिर्भरं सदा
लोकयेय निजपाणिपूजितम्॥१२॥

हे प्रभु! अन्तः बाह्य अर्थात् चित्त-स्वरूप और जगत्-स्वरूप अथवा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सभी भासमान अर्थात् विद्यमान पदार्थराशि में परा-शक्ति की सत्ता से संपन्न तथा तीनों लोकों से आपूरित आपको अपने दोनों हाथों (ज्ञान तथा क्रिया) से इसी स्वरूप में आपकी पूजा करते हुए सदा दोनों अवस्थाओं अर्थात् समाधि और व्युत्थान (ज्ञान और क्रिया की) दशा में मात्र अनवरत देखता ही रहूँ।

स्वामिसौधमभिसन्धिमात्रतो
निर्विबन्धमधिरुह्य सर्वदा।
स्यां प्रसाद परमामृतसवा
पानकेलिपरिलब्ध निर्वृति।१३॥

हे प्रभु! मैं आपकी इच्छाशक्ति के फलस्वरूप ही आप के इस प्रसाद (महल) के ऊँचे शाक्तपद के शिखर पर किसी भी उपाय का सहारा लिए बिना ही अर्थात् निर्बाध रूप से आगे बढ़कर

आपके अनुग्रह से इस सर्वोच्च समावेश के अमृत रूपी मादक-मदिरा (शराब) के उन्मुत्त उल्लास-विलास से युक्त होकर अब सदा इसी आनन्द के समावेश के परिवेश में बना रहूँ।

यत्समस्त सुभगार्थवस्तुषु
स्पर्श मात्र विधिना चमत्कृत्रिम्।
तां समर्पयति तेन ते वपुः
पूजयन्त्यचलभक्तिशालिनः॥१४॥

हे प्रभु! जिस असाधारण स्थिति एवं अलौकिक अनुभूति की युक्ति से सब ही सार्थक तथा आर्कषक वस्तु पहली ही दृष्टि में अवलोकन करने में अथवा आरम्भ के स्पर्श से ही एक तल्लीन-परक चमत्कार उपलब्ध हुआ करता है, अर्थात् अपने से अभिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप में ध्यानमग्न होकर आनन्द की मुद्रा में लय-विलय हो जाते हैं।

स्फार यस्यखिलमात्मना स्फुरन्,
विश्वमामृशसि रूपमामृशन्।
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे
तत्समुल्लसति भावमण्डलम्॥१५॥

हे प्रभु! आप अपने चिद्-स्वरूप से प्रकट होते हुए इस सारे जगत को विकसित करते हो अर्थात् अनन्त पदार्थ-राशि में प्रकाशित होते हो, और चिद्-स्वरूप के अलौकिक चमत्कार के

अस्तित्व के होने के साथ ही इस सारे जगत् को अपने अपार रस के आनन्द में डुबो देते हो और जब आप अपनी इच्छाशक्ति से अपने इस चिदानन्द रस में लीन होकर उन्मत्त अवस्था में चकराने लगते हो तो उसी क्षण युगपत् समस्त पदार्थों की राशि आनन्द से विलास और उल्लासने लगती है।

योऽविकल्पमिदमर्थ मण्डलं
पश्यतीश निखिलं भवद्वपु।
स्वात्मपक्ष परिपूरिते जगत्,
यस्य नित्य सुखिनः कुतो भयम्॥१६॥

हे स्वतंत्र प्रभो! जो भी आपका समर्पित भक्त इस सब ही पदार्थ-राशि अथवा इस बाह्य-जगत के प्रत्येक अणु-अणु और कण्-कण् में आपके ही चिद्रस का साक्षात्कार करता है, उस, इस आलौकिक अवस्था, अथवा कोटि के, अर्थात् चिद् की एकता से संपूर्ण बने हुए, इस अवस्था के सदा-सुखी भक्त को इस संसार में रहकर कैसा भय और किस का भय है। इस अवस्था में भक्त प्रत्येक क्षण अपने अभिन्न-स्वात्म स्वरूप में अवस्थित होकर रहते है-अतः भय काहे का है और किस का।

कण्ठ कोणविनिविष्टमीष ते
कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुः,
भेद वृत्ति यदि रोचते न मे॥१७॥

हे प्रभु! आपके गले के कोने में पड़ा हुआ यह कालकूट अथवा हलाहल विष (ज़हर) भी, आपसे अभिन्न होने के कारण, मेरे लिए अमूल्य और महान् अमृत के अनुरूप है, परं आयास किए बिना ही प्राप्त किया हुआ अमृत भी यदि आपके अभिन्न स्वरूप से भिन्न है, उसको पीने की ज़रा भी इच्छा नहीं है।

त्वत्प्रलापमय रक्तगीतिका
नित्ययुक्त वदनोपशोभितः।
स्यामथापि भवदर्चन क्रिया
प्रेयसीपरिगताशयः सदा॥१८॥

हे स्वामी! मैं (अभिन्न होकर) अपने मुख से आपकी भक्तिपूर्ण अस्तुति एवं मधुर अमर कथाओं के गीतों के गायन-वादन में सदा ही तल्लीन होकर सुशोभित बना रहूँ, अर्थात् मैं सदा ही अपने मुख से आपकी अमर कथानों के गायन-वादन में ध्यान-मग्न होकर बना रहूँ, और आपकी पूजा-अर्चना को परम-प्रिया के अनुरूप मानकर उसी के ध्यान एवं मनन में सदा डूबा हुआ बना रहूँ अर्थात् पूजा को परम प्रेयसी मानकर उसी के ध्यान मनन में संलग्न बना रहूँ।

ईहितं न बत परमेश्वरं
शक्तते गणयितुं तथाच मे।
दत्तमप्यमृत निर्भरं वपुः
स्वं न पामनुमन्यते तथा॥१९॥

अहो! क्या ही आश्चर्य की बात है कि परमेश्वर की करनी या उनके कार्य-कलाप को न तो समझा जा सकता है और ना ही जाना जा सकता है, क्यों मुझे आनन्दघन स्वरूप के रसपान का सौभाग्य देने के उपरान्त भी उसकी निरन्तरता और चिरस्थायी स्थिति को स्वीकारा नहीं, अर्थात् इच्छा पूर्वक उस अपने स्वरूप के अमृत-रस को निरन्तर पीने का आनन्द नहीं स्वीकारा, अर्थात् समाधि के आनन्द में अमृत के रस-पान करने के उपरान्त फिर से मुझे व्युत्थान-भूमि (Objective - Universe) अथवा भेदमय और विविधता के इस विश्व में ला दिया।

त्वागमाधमविकल्पमद्वयं,
स्वं स्वरूपमखिलार्थ घस्मरम्।
आविशन्नहमुमेश सर्वदा,
पूजयेम-भिसंस्तुवीय च॥२०॥

हे उमेश! आपके अथाह, निर्विकल्प, भेदरहित, स्वात्म-स्वरूप और सभी ही भेद-परक पदार्थों को ग्रास करनेवाले अथवा आत्मसात करने वाले आपके इस अलौकिक और परमानन्द स्वरूप में समावेश करते हुए सतत आपकी पूजा एवं पूर्णरूप से स्तुति-परामर्श करता ही बना रहूँ।

विकसतु स्ववपुर्भवदात्मकं,
समुपयान्तु जगन्ति ममाङ्गताम्।
व्रजतु सर्वमिदं द्वयवल्गितं,
स्मृतिपथोपगमेऽप्यनुपाख्यताम्॥२१॥

मेरी अपनी आत्मा आपके स्वरूप के रूप में विकसित होकर उभर कर आए और पृथिवी तत्त्व से लेकर सदाशिव तत्त्व तक सब ही तत्त्व (Elements) अर्थात् लोक मेरे अंग बनकर विकसित होकर उभर कर आए, तथा यह भेद प्रथा की सारी ही ऐंठन संस्मरण या स्मरण की राह पर कभी लौट न आए अर्थात् यह भेद-परक प्रवृत्ति सर्वथा भूल जाए, अर्थात् अवचेतन-मन (sub-conscious mind) में इसका आंशिक संस्कार भी न शेष रहे।

निजनिजेषु पदेषु पतन्त्विमाः,
करणवृत्तय उल्लसिता मम।
क्षणमपीश मनागपि मैवभूत्,
त्वदविभेदरस क्षति साहसम्॥२२॥

हे प्रभु! मेरी, ये विकास के फलस्वरूप आनन्द के उल्लास मे आई हुई इन्द्रियों की वृत्तियाँ, अर्थात् इन सब ही इन्द्रियों के कार्य-कलाप निश्चय रूप से अपने विषयों (Objective - Existance) पर लगी रहें, अर्थात् जिस-जिस इन्द्रिय का जो-जो कार्य कलाप है, अर्थात् आँख को देखना है, जीब को चखना है कानों को सुनना है आदि-आदि, परन्तु आप के साथ जो मेरे

अभेदता के रस की प्रेषणीयता है, एवं संपर्क है उस रस की प्रेषणीयता (Communication) को क्षतिग्रस्त अथवा अस्त-व्यस्त करने का किंचित् भी साहस न करे।

समुदियादपि तादृशतावका -
ननुविलोकपरामृत संप्लवः।
मम घटेत यथा भवदद्वया
प्रथन घोरदरी परिपूरणम्॥२३॥

हे प्रभु! यदि यह संभव हो पाएं कि आपके अलौकिक एवं स्वातंत्र्य-संपन्न मुख के दर्शन रूपी परम अमृत की बाढ़ (flood) आ जाए, और जिसके परिणाम स्वरूप मेरे लिए आपके अद्वैत-स्वरूप को छिपाने वाली यह गंभीर खाई या यह खंदक, उस अमृत के बाढ़ से पूर्णतः भर जाएगी और फिर आप के दर्शन की निरन्तरता में किंचित् भी समस्या नहीं उभरेगी अर्थात् भेद-रूपी खाई के भर जाने के उपरान्त साक्षात्कार की व्यवस्था में किसी प्रकार की भी आंशका या भावी बाधा उभरकर नहीं आएगी।

कर्हि नाथ विमलं मुखबिम्बं,
तावकं समवलोकयितास्मि।
यत्स्रवत्यमृतपूरमपूर्वम्
यो निमज्जयति विश्वमशेषम्॥२४॥

हे नाथ! मैं आपके निर्मल बिम्बात्मक मुख को अर्थात् शाक्त-संपन्न मुख को पुनः कब साक्षात्कार करूँगा, यह, आपका आपूर्व एवं प्रदीप्त

मुख-मण्डल निरन्तर अमृत की धारा को बहाता ही रहता है और जिस अमृत की धारा में यह संपूर्ण बाह्य-विश्व, अर्थात् भेद-प्रथा में विभक्त हुए और बँटे हुए जगत को अपने मे डुबो देता।

परिसमा-प्रमिवोग्रमिदं जगद्,
विगलितोऽविरलो मनसो मलः।
तदपि नास्ति भवत्पुरगोपुरा
गर्लकवाट विघटनमण्वपि॥२५॥

हे प्रभु! अब तो भीषण विश्व अर्थात् भेद, द्वैत, अज्ञान और भटकन से भरपूर यह विश्व समाप्त होने को है। मेरे मन के मल अर्थात् आणवमल, मायामल और कार्ममल अथवा अविद्या से उत्पन्न मल एवं विकार पिघलकर बह चुके हैं। इस प्रकार सुखद स्थिति के उत्पन्न होने के उपरान्त भी, हे प्रभु! आपकी आनन्दपुरी के गोपुर अथवा ड्योढी के सांकल-युक्त किवाड़ ज़रा भी खुलने का नाम ही नहीं लेते हैं।

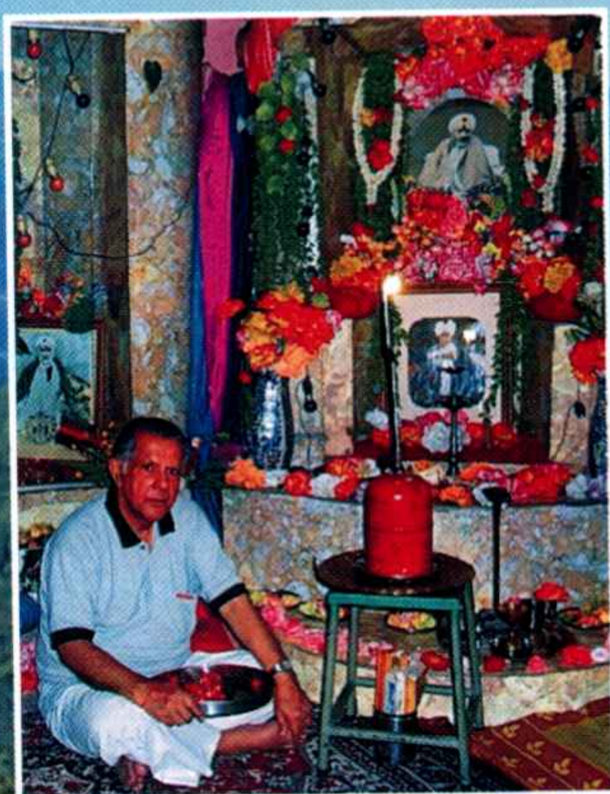
यत्र सोऽस्तमयमेति विवस्वान्,
चन्द्रमः प्रभतिभिः सह सर्वैः।
कापि सा विजयते शिवरात्रिः
स्वप्रभा प्रसरभास्वररूपा॥२६॥

जिस अलौकिक शिव-समावेश की अवस्था में प्राणरूपी सूर्य, अपानरूपी चन्द्रमा, विकल्प रूपी तारा-मण्डल आदि सबों के

सहित अस्त हो जाते हैं, अर्थात् इस सबों का प्रशमन होता है। इसके उपरान्त वह अभिन्न एवं चिद् स्वरूप की कान्ति के प्रसर से प्रकाशपुंज होकर इस प्रकार की अलौकिक और अद्वितीय शिवरात्रि निश्चय ही धन्य है।

ज्योतिरस्ति कथयापि च किच्चद्,
विश्वमप्यतिसुषुप्तमशेषम्।
यत्र नाथशिवरात्रि पदेऽस्मिन्,
नित्यमर्चयतिभक्तजनस्त्वाम्।।२७।।

हे प्रभु! जिस शिव-समावेश की शिवरात्रि की वेला पर अन्त:-बाह्य इन्द्रियों के द्वारा होने वाले ज्ञान-रूपी प्रकाश का ज़रा भी अस्तित्व नहीं हुआ करता है, अर्थात् जिस निराली वेला पर ज्ञाता (subject) और ज्ञेय (object) की विभिन्नता नितान्त रूप से परिसमाप्त होती है, जिस वेला पर सब ही प्रकार की भेद-प्रथा विनष्ट हो जाती है और यह समस्त विश्व भी सुषुप्ति अर्थात् गहन एवं गंभीर नींद में स्वयं सो जाता है। उसी अनिर्वचनीय शिव-समावेश की बेला पर भक्तजन सतत आपकी पूजा-अर्चना करते ही रहते हैं।



डॉ. टी. एन. गंजू

यह पुस्तक स्वामी राम जी के चरणों
में समर्पित